राजनीतिक

अर्थशास्त्र

मार्क्सवादी अध्ययन फोरम, दिल्ली द्वारा प्रचारित

स प्र
समकालीन जनमत प्रकाशन
~~सुस्मिता सदन, बोरिंग केनाल रोड, पटना-1~~
आज़ाद मार्केट, पीरमुहानी
पटना 800003

मूल्य : [illegible] की

ले मजदूर

अध्याय 1

1. भूमिका :

यह वाकई आश्चर्य की बात है। मान लीजिए कि 1960 में आपने अपनी जेब में 1 रु० का एक सिक्का रखा था और आज 1981 में आप पाते हैं कि महज 22 पैसे ही बच गये हैं। यानी अब आप उससे 22 पैसे का ही माल खरीद सकते हैं। आपके 78 पैसे कहां चले गये ? किसने आपसे यह राशि ले ली ? लेकिन जरा ठहरिये। यही एकमात्र जादू नहीं है। और भी कितने जादू आपको अभी देखने हैं। 1978-79 में भारत में रेकार्ड अन्न-उत्पादन हुआ। पिछले ही दिनों योजना मंत्री ने राज्य सभा में छठी पंचवर्षीय योजना पर बहस का उद्घाटन करते हुए दम्भ के साथ कहा कि देश फिलहाल अन्न-उत्पादन में आत्मनिर्भर हो चुका है। लेकिन 1973-74 से 1978-79 के बीच कृषि पर निर्भर आबादी की आमदनी 42·6% से गिरकर महज 27% रह गयी। गरीबी की सीमारेखा (मोटामोटी 100 रु० मासिक या रोजाना 3 रु० की आमदनी) से नीचे जीनेवालों का 95% देहातों में रहता है। अन्न का यह विशाल भण्डार कौन डकार गया ? निश्चय ही समूची शहरी जनता नहीं। आपने निश्चय ही गांव में रहनेवाले एक बहुत ही छोटे समुदाय की बढ़ती जा रही सम्पन्नता देखी है। 10 हेक्टेयर से अधिक जमीन रखनेवाले भूस्वामियों की संख्या अभी भी देहाती आबादी के 4% से अधिक नहीं है और शहरी क्षेत्रों में भी, सिर्फ 5% परिवार 42% शहरी सम्पत्ति के मालिक बने बैठे हैं। बम्बई और दिल्ली जैसे महानगरों की 33% और 40% आबादी झुग्गी-झोपड़ियों में जीती है। जादुओं की सूची अन्तहीन है। इसलिए चलिये, एक बार फिर जेबों पर लौट आयें। लगातार बढ़ती महंगाई दिन-ब-दिन आपकी जेबों को खाली करती जा रही है; आपके बेटे रोजगार की कतार में लंबे समय से खड़े हैं; आपकी बेटियां शादी के लायक हो चुकी हैं; आपके छोटे बच्चे चरवाहे, बैरे और फैक्टरी-जीवन की यातना झेलनेवाले मजदूर

रूप में खटने के कारण साधारण-से-साधारण लाड़-प्यार से भी वंचित कर दिये गये हैं। यह बदजात जेब हमेशा आपको परेशान किये रहती है; यह साये की तरह खेतों, कारखानों व दफ्तरों में आपका पीछा करती रहती है। इसने आपके पारिवारिक जीवन को भी अस्त-व्यस्त कर दिया है, इसने गृह-कलह को जन्म दिया है। आप इस भंवरजाल से निकलने की कोशिश करते हैं, इन रहस्यों का जवाब खोजना चाहते हैं। और तब आपको यह विश्वास दिलाया जाता है कि आपकी तकलीफों का कारण समाज का नैतिक अधःपतन या चारों ओर फैला भ्रष्टाचार है। लेकिन व्यवहार में आप ठीक इसके विपरीत देखते हैं। आप देखते हैं कि किस प्रकार पूंजी का जन्म ही बेईमानी, क्रूरता व निर्ममता के बीच से होता है; पूंजी किस प्रकार भ्रष्टाचार को जन्म देती है और नैतिकता का गला घोंट देती है। आपको विश्वास दिलाया जाता है कि आपकी गरीबी का कारण अधिक जनसंख्या है। लेकिन आप देखते हैं कि आपके परिवार के सभी सदस्य काम करते हैं और सम्पत्ति पैदा करते हैं, मगर वे सम्पत्ति में अपने न्यायोचित हिस्से से वंचित कर दिये जाते हैं। आपको विश्वास दिलाया जाता है कि आपके दुःखों की जड़ प्राकृतिक विपदाएं हैं। लेकिन आप देखते हैं कि अच्छे मानसून में भी आप दो जून खाने के लिए तरसते रहते हैं। निश्चय ही गड़बड़ी आपके ग्रह-नक्षत्रों में नहीं, कहीं दूसरी जगह है। वाकई **उत्पादन और विनिमय की हमारी प्रणाली** में ही गड़बड़ी है। उत्पादन और विनिमय को संचालित करनेवाले कुछ नियम हैं जिनसे वाकिफ न रहने के कारण आप इन भ्रामक धारणाओं के शिकार हो जाते हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र, अपने व्यापकतम अर्थों में मानव समाज में जीविकोपार्जन के भौतिक साधनों के उत्पादन और विनिमय को संचालित करनेवाले नियमों का विज्ञान है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें इस योग्य बनाता है कि हम न सिर्फ मौजूदा जमाने के रहस्यों को सुलझा सकें, बल्कि उत्पादन और वितरण की मौजूदा व्यवस्था को बदल भी सकें। इसलिए **राजनीतिक अर्थशास्त्र न सिर्फ भौतिक उत्पादन का, बल्कि लोगों, वर्गों का भी अध्ययन करता है।**

2. राजनीतिक अर्थशास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

चूंकि विनिमय के लिए उत्पादन मानव समाज में प्राचीन काल से ही चला आ रहा है, इसलिए इसका अध्ययन भी काफी पुराना है। इससे सम्बन्धित कुछेक नियम व सूत्र प्राचीन यूनानी लेखकों (जैसे अरस्तू) की रचनाओं में भी आप पा सकते हैं। ऋग्वेद के आरम्भिक अनुच्छेदों में भी कहीं-कहीं आपको 'क्रय-विक्रय' जैसे शब्द मिलते हैं और बाद के अनुच्छेदों में तो इस बात का भी जिक्र है कि किस प्रकार उपभोग व 'हवन' के लिए उत्पादन की जगह पर 'हिरण्य' (मुद्रा) के लिए उत्पादन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है (ऋग्वेद 9-111)। मौर्यकाल में **कौटिल्य** के अर्थशास्त्र में तो व्यापार, मुद्रा, सूदखोर पूंजी आदि विषयों का भी अध्ययन मिलता है। जरूर, इन रचनाओं में हमें भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक युगों और भिन्न-भिन्न देशों की विशिष्टताओं की झलक मिलती है; जैसा कि **एंगेल्स** ने भी लिखा है, "**जिन परिस्थितियों में मनुष्य उत्पादन और विनिमय करते हैं, वह अलग-अलग देशों में और हरेक देश में अलग-अलग पीढ़ियों में भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इसलिए राजनीतिक अर्थशास्त्र हर देश के लिए हर ऐतिहासिक युग के लिए समान नहीं हो सकता। अतः राजनीतिक अर्थशास्त्र मूलतः एक ऐतिहासिक विज्ञान है।**"

विनिमय के लिए उत्पादन पूंजीवादी समाज में ही चरम विन्दु पर पहुंचता है। हर चीज माल में बदल जाती है। इस पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली का आरम्भ व विकास 16वीं सदी में यूरोप में, खासकर ब्रिटेन में, शुरू हुआ। इसलिए एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए तत्कालीन यूरोप, खासकर ब्रिटेन ने, वस्तुगत आधार मुहय्या किया। इस तरह, अपने शास्त्रीय (classical) रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र 18वीं सदी का शिशु है—यह ब्रिटेन में **विलियम पेट्टी** (2623-87) और फ्रांस में **पियरे ल' पेसां ब्यॉगिलेबेयर** (1646-1714) से शुरू होता है और इसका अन्त होता है ब्रिटेन में **डेविड रिकार्डो** (1772-1823) और फ्रांस में **ज्यां चार्ल्स लियोनार्ड द' सिसमोंडी** (1773-1842) से। उस युग के अन्य विशिष्ट

शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्री थे ब्रिटेन के **ऐडम स्मिथ** (1723-90) और फ्रांस के **फ्रांक्वा क्वेस्ने** (1694-1774)।

बाजार में, खासकर पूंजीवादी विश्व-बाजार में, हम बहुत बड़े पैमाने पर मालों का विनिमय होते देखते हैं। चूंकि उत्पादन एक अनुमानित बाजार के लिए होता है, सो कुछ मालों पर अच्छा मुनाफा हासिल होता है और कुछ दूसरे माल नष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के मालों के बाजार में एक दूसरे से होड़ होती है और इस होड़ में कुछ मालों की स्थिति मजबूत हो जाती है, जबकि कुछ अन्य मालों का लोप हो जाता है। इसलिए जैसे कि स्वप्नों ने हमारे पुरखे-पुरनियों के दिमाग को परेशान कर डाला था तथा स्वप्नों के क्रिया-कलाप से अनभिज्ञ हमारे पुरखों ने इस पहेली को आत्मा की अमरता की धारणा के जरिये सुलझाया और इस तरह भाववादी दर्शन को जन्म दिया; वैसे ही शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने इस 'बाजार की रहस्यमय शक्तियों' की पहेली को सुलझाने के लिए मालों को ऐसी वस्तु के रूप में देखा जिसके बारे में विश्वास किया जाता है कि वह अपना प्रभुत्व चलाने के लिए अपने अन्दर रहनेवाले किसी 'भूत' की सेवाएं प्राप्त करती है; और इस तरह उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र में **वस्तुपूजा** को जन्म दिया। जैसा कि ऐडम स्मिथ ने भी लिखा था—कोई भी उत्पादक "महज अपने लाभ की मंशा रखता है, लेकिन "वह अनेक दूसरे मामलों की तरह इस मामले में भी **एक अदृश्य हाथ के द्वारा संचालित होता है, जो उसे एक ऐसे लक्ष्य की ओर बढ़ा देता है जो लक्ष्य उसकी मंशा का हिस्सा नहीं होता।** (ऐडम स्मिथ : 'वेल्थ ऑफ नेशन्स)

1825 में विश्व ने पहले पूंजीवादी आर्थिक संकट, यानी अतिउत्पादन के संकट का सामना किया। बहुतेरे कारखाने बन्द हो गये, दसियों लाख लोग बेकारी की हालत में जाने को मजबूर कर दिये गये। शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र इस संकट की व्याख्या करने और इसका समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ था, इसलिए वह अधिकाधिक उलझनपूर्ण होता गया। 1830 के बाद से सर्वहारा वर्ग भी एक स्वतंत्र वर्ग के रूप में उभरने लगा क्योंकि उसका

अस्तित्व ही इस संकट के समाधान पर निर्भर है। और उस समय, जर्मनी एक सामाजिक क्रान्ति की दहलीज पर खड़ा था। इसलिए जर्मनी हुआ एक नये राजनीतिक अर्थशास्त्र का जन्मस्थल, जिसकी नींव कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने रखी। **मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र ने ही पहली बार आम तौर पर उत्पादन और विनिमय को संचालित करनेवाले नियमों का, खास तौर से पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन और विनिमय को संचालित करनेवाले नियमों का, इसके अन्तर्निहित अन्तरविरोधों का और अन्ततः इसकी जगह पर समाजवादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना का रहस्योद्घाटन किया।**

कार्ल मार्क्स ने इस विषय का अध्ययन करने में भौतिकवादी दृष्टि-बिन्दु व द्वन्द्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल किया। उन्होंने सर्वप्रथम उस चीज का पता लगाया जो उत्पादन और वितरण की तमाम प्रणालियों में पाया जाता है, यानी **माल**। उन्होंने इसे पूंजीवादी व्यवस्था की 'कोशिका' (Cell) की संज्ञा दी और हर संभव पहलू से इसकी (इसके अन्तरविरोध के साथ) छानबीन की।

3. माल (Commodities) :

हर ऐसी **चीज जिसका उत्पादन विनिमय के लिए किया जाता है, माल कहलाता है**। विनिमय के लिए उत्पादन कोई शाश्वत चीज नहीं है। प्राचीन आदिम कम्युनिस्ट कबीलों में, जीविकोपार्जन के भौतिक साधन सामूहिक रूप से पैदा किये जाते थे और उनका सामूहिक रूप से उपभोग किया जाता था। कभी-कभी और कहीं-कहीं सामूहिक उपभोग के बाद जो कुछ अतिरिक्त बच जाता था, उसका दूसरे कबीले के साथ वस्तु-विनिमय कर लिया जाता था। लेकिन यह कभी-कभी होनेवाला वस्तु-बिनिमय (occasional barter) भी बाद के दौर में विकसित हुआ।

उत्पादन के औजारों के विकास के कारण, खासकर धातु के औजारों के प्रयोग के कारण कृषि और दस्तकारी जुदा हुई। श्रम-विभाजन सामने आया। अब कुछ लोग खेतबारी करने लगे, कुछ लोग धातु के औजार बनाने

लगे, कुछ शिकार करते रहे। आबादी के इन समूहों के बीच विनिमय अपरिहार्य हो गया क्योंकि जीविकोपार्जन के सारे साधन एक व्यक्ति या एक परिवार खुद ही तैयार नहीं कर सकता था।

लेकिन श्रम-विभाजन अनिवार्यतः माल-उत्पादन को जन्म नहीं देता है। उदाहरण के लिए, भारत के प्राचीन आत्मनिर्भर स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-समुदाय को लीजिये। ग्राम-समुदाय में श्रम-विभाजन था। दस्तकारी में लगे लोग व परिवार अपने उत्पादित सामान का अपने उपभोग से अतिरिक्त हिस्सा सामंतों को देने को बाध्य थे। बदले में ग्राम-समुदाय की ओर से उन्हें जमीन या अनाज की एक निश्चित मात्रा दे दी जाती थी। यह सब होता था युगों पुराने सामंती नियमों-कानूनों के अन्तर्गत। खरीद-फरोख्त का सवाल ही नहीं था। इसलिए इसे माल-उत्पादन नहीं कहा जा सकता। **माल वह है जिसका उत्पादन सिर्फ बेचने के उद्देश्य से किया जाता है।** इसलिए श्रम-विभाजन माल-उत्पादन की एकमात्र शर्त्त नहीं है। इसकी दूसरी शर्त्त है: बाजार के लिए उत्पादन।

हर वस्तु की तरह, माल में भी दो विरोधी पहलू निहित हैं—उपयोग-मूल्य (use-value) और विनिमय मूल्य (exchange value)। **किसी उत्पादित वस्तु की उपयोगिता से उसका उपयोग-मूल्य बनता है। विनिमय मूल्य दो उत्पादित वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध को प्रकट करता है।** हर वस्तु जिसका उपयोग-मूल्य है, उसका विनिमय हर स्थिति में किया ही जाय, यह कोई जरूरी नहीं; लेकिन विनिमय की जा रही प्रत्येक वस्तु में उपयोग-मूल्य का होना अपरिहार्य है क्योंकि विनिमय केवल उसी चीज का किया जा सकता है, जिसका मनुष्य के लिए कुछ उपयोग हो। हवा में उपयोग-मूल्य है, लेकिन विनिमय मूल्य नहीं, इसीलिए यह माल नहीं है। किसी के अपने उपयोग के लिए बनाया गया घर या अपने उपभोग के लिए उत्पादित कोई सामान भी माल नहीं होता।

प्रत्येक माल का उत्पादन मनुष्य के श्रम से ही होता है। प्रकृति हमें कच्चे माल अवश्य प्रदान करती है, लेकिन प्रकृति प्रदत्त चीजों को जीविको

पार्जन का साधन या उपभोक्ता सामग्री बनाने के लिए मानव श्रम की जरूरत पड़ती है। मगर विभिन्न प्रकार का माल तैयार करने के लिए विभिन्न प्रकार के श्रम की जरूरत होती है। जूते तैयार करने के लिए जिस प्रकार के श्रम की जरूरत है, उससे गुणात्मक रूप से भिन्न प्रकार का श्रम कपड़े तैयार करने में लगता है। **खास-खास किस्म के माल तैयार करने में लगा यह विशिष्ट श्रम मूर्त्त (ठोस, concrete) श्रम कहलाता है। मूर्त्त श्रम से किसी भी वस्तु का उपयोग-मूल्य निर्धारित होता है।** लेकिन बाजार में हम गुणात्मक रूप से भिन्न प्रकार के श्रम से बने मालों का विनिमय होते देखते हैं। आखिर इस विनिमय का आधार क्या है ?

4. विनिमय (Fxchange) :

निश्चय ही विनिमय का आधार माल की उपयोगिता नहीं हो सकती। सोना का मूल्य चावल से बहुत अधिक है, लेकिन जीविकोपार्जन के लिहाज से चावल मनुष्य के लिए सोने से अधिक उपयोगी है। **इसीलिए किसी माल का उपयोग-मूल्य उसके विनिमय-मूल्य को निर्धारित नहीं करता।**

जब हम एक जोड़े जूते का विनिमय पांच गज कपड़े से करते हैं, तो इन दोनों मालों में ऐसी कौन-सी चीज है जो दोनों में मौजूद है। निश्चय ही यह मानव-श्रम है, दोनों को बनाने में मानव-श्रम की एक निश्चित मात्रा लगी है। और भी बड़े अर्थ में देखें, तो हम पायंगे कि समाज में विभिन्न मालों का उत्पादन होता है और प्रत्येक माल के उत्पादन पर समाज के श्रम का एक निश्चित समय लगता है। इससे हम किसी एक माल के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल निकाल सकते हैं। मान लीजिये, दस जोड़े जूते तैयार करने में समाज के श्रम का सौ घण्टा लगता है। यानी एक जोड़ा जूता तैयार करने में औसत दस घण्टे का श्रम लगा। जब हम एक जोड़े जूते का विनिमय पांच गज कपड़े से करते हैं तो इसका मतलब यही हुआ कि एक जोड़े जूते और पांच गज कपड़े के निर्माण में लगा सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल समान है। **इसीलिए किसी वस्तु का विनिमय-**

मूल्य उस वस्तु के उत्पादन में लगे सामाजिक रूप से आवश्यक औसत श्रम-काल की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है।

हर माल में पाया जानेवाला यह समान तत्त्व—श्रम—अमूर्त्त श्रम (abstract-labour) कहलाता है। यह अमूर्त्त श्रम ही वस्तु के विनिमय-मूल्य को निर्धारित करता है। यही मूल्य का श्रम-सिद्धांत (Labour theory of value) कहलाता है।

किसी भी माल में लगे सामाजिक रूप से आवश्यक औसत श्रम-काल के जरिये उस माल के मूल्य का निर्धारण किसी समझौते का परिणाम नहीं होता, बल्कि बाजार खुद इसका नियमन (regulation) करता है, वह खुद ही किसी माल के मूल्य को इस स्तर तक ले आता है। बाजार में बहुत से प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। हो सकता है किसी उत्पादक ने कोई माल तैयार करने में औसत से कम ही श्रम-काल खर्च किया हो और किसी दूसरे उत्पादक ने औसत से अधिक श्रम-काल लगाया हो। लेकिन बाजार उस माल के मूल्य को औसत श्रम-काल के स्तर पर ही ला ठहरता है। इसकी हम आगे और विस्तृत रूप में चर्चा करेंगे।

मालों के परिचालन का आदिम रूप था—

माल—माल (मा०—मा०) यानी, माल देकर माल लेना। विनिमय के इस रूप को वस्तु-विनिमय कहा जाता है।

धातु के आविष्कार ने विनिमय के क्षेत्र में एक नयी क्रांति ला दी। न सिर्फ कृषि और दस्तकारी जुदा हुई, बल्कि खान से खनिज पदार्थ निकालने के लिए आबादी का एक हिस्सा आबाद बस्तियों से दूर जाकर रहने लगा, क्योंकि ये खान-खदान बस्तियों से दूर हुआ करते थे। विनिमय कृषि और दस्तकारी के साथ-साथ महज पूरक भूमिका में ही नहीं रह सकता था। एक नया श्रम-विभाजन जरूरी हो गया—विनिमय अन्य आर्थिक कार्यवाहियों से जुदा हुआ व्यापार का जन्म हुआ। शहरों के निर्माण के साथ-साथ कृषि पदार्थों का भी माल के रूप में रूपान्तरण हुआ। कॉस्य युग में बड़े-बड़े व्यापारिक अभियान संगठित किये गये। पहियेवाले रथों और बड़ी-बड़ी

नौकाओं का आविष्कार हुआ। भारत में 2500 ई० पू० की सिन्धु घाटी सभ्यता में भी उस युग के प्रमाण मिलते हैं।

लेकिन व्यापार का जितना ही विस्तार होता गया, वस्तु-विनिमय उतना ही असंभव होता गया। बड़े पैमाने पर मालों के संचय और विनिमय ने एक बहुत जटिल चरित्र ग्रहण कर लिया। लेकिन जब कोई समस्या बहुत जटिल हो जाती है, तो गुणात्मक छलांग भी अधिक दूर नहीं होता। वस्तु-विनिमय की जटिलताओं को हल किय गया—मुद्रा के ज रये।

5. मुद्रा (Money):

मुद्रा एक विशेष किस्म का माल है जिसमें अन्य सभी मालों का विनिमय-मूल्य अभिव्यक्त होता है। मूल्य की धारणा में ही मुद्रा की धारणा-छुपी हुई है। जैसा कि हम देख चुके हैं किसी भी माल का मूल्य उसमें लगे सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल द्वारा तय होता है। अब यदि आठ घण्टे के सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल को सोने के एक सिक्के के बराबर मान लिया जाय, तो सोने के इस एक सिक्के से उन तमाम मालों को खरीदा जा सकता है जिनके निर्माण में आठ घण्टे का सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल लगा है। इस प्रकार किसी खास चीज को मानक (Standard) मानकर अन्य चीजों को उसमें अभिव्यक्त करना मनुष्य के लिए कोई नयी चीज नहीं। लम्बाई, चौड़ाई, वजन आदि को अभिव्यक्त करने के लिए भी मनुष्य ने इंच, सेन्टीमीटर, किलो ग्राम, पौन्ड आदि मानक विकसित किये हैं। लेकिन तब, सोने या चांदी को ही विनिमय-मूल्य को अभिव्यक्त करनेवाला मानक क्यों बनाया गया?

उन दिनों प्रचलित माल थे—अनाज, पशु और धातु। इन मालों में मुद्रा के रूप में अनाज का प्रचलन संभव नहीं था, क्योंकि मुद्रा के लिए आवश्यक एक गुण—टिकाऊपन—उसमें नहीं होता। मुद्रा के रूप में अनाज को संग्रहित करने की भी समस्या थी। पशुओं का मुद्रा के रूप में इस्तेमाल भी सम्भव नहीं था, क्योंकि मुद्रा का दूसरा आवश्यक गुण विभाज्यता—उसमें नहीं है। तब धातु ही बच जाते हैं जिनका मुद्रा के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन धातु में भी कुछ ऐसे धातु थे (जैसे कि ताम्बा) जिनका ठोस

उत्पादन-कार्य में सीधे इस्तेमाल होता था। यानी, जीविकोपार्जन के लिए जिनका प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य था। सो, इनका भी मुद्रा के रूप में इस्तेमाल संभव नहीं था। अतः सोना या चांदी ही ऐसे धातु थे जो टिकाऊ थे व प्रचलन की प्रक्रिया में लम्बे समय तक बने रह सकते थे। उनकी छोटी मात्रा के उत्पादन में लगा औसत श्रम-काल अपेक्षाकृत अधिक होता था, इसलिए उनका एक छोटा सिक्का अपेक्षाकृत अधिक श्रम-काल का प्रतिनिधित्व करता था। उनमें असीमित विभाजता थी, इसलिए छोटे सिक्कों के रूप में उन्हें संग्रहित कर रखा जा सकता था। ठोस उत्पादन कार्य में उनका प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य एकदम नगण्य था। इसलिए ढेर सारे मालों के बीच सोना चांदी ही ऐसे माल थे जो विनिमय के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने के लिए सबसे उपयुक्त थे। इसीलिए सोना या चांदी के सिक्कों को ही मुद्रा के रूप में स्वीकार किया गया, उन की उपयोगिता विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने में ही थी।

लेकिन मुद्रा के रूप में सोने या चांदी का प्रचलन भी किसी निश्चित तारीख को उत्पादकों के सचेत सामाजिक समझौते के जरिये शुरू नहीं हुआ। बल्कि एक प्रक्रिया में स्वतः इसका प्रचलन होने लगा। इसी प्रक्रिया के दौरान, विभिन्न धातुओं को, यहां तक कि कभी-कभी पशुओं (गाय, घोड़ा आदि) व दासों को भी, विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया गया।

इस तरह, एंगेल्स के अनुसार, "मनुष्य ने मालों के अंबार के बीच से उस एक प्रभुता सम्पन्न माल को छांट लिया, जिसमें अन्य सभी मालों का मूल्य हमेशा के लिए अभिव्यक्त किया जा सकता था, एक ऐसा माल जो सामाजिक श्रम के तात्कालिक मूर्त्तिमान रूप के बतौर स्वीकृत है तथा इसीलिए जिसे फौरी तौर पर और बिना शर्त सभी मालों के बदले में लिया जा सकता है — मुद्रा। मुद्रा पहले से ही मूल्य की धारणा में भ्रूण की तरह अन्तर्निहित रहती है, वह सिर्फ व्यक्त मूल्य है।"

मुद्रा के जन्म ने न सिर्फ विनिमय की जटिल प्रक्रिया को बिल्कुल आसन

बना दिया, बल्कि उसने कुछ नयी प्रक्रियाओं को भी जन्म दिया और नये वर्गों का भी प्रादुर्भाव हुआ।

इस अवस्था में मालों के परिचालन (Circulation) का प्रारम्भिक रूप था : माल→मुद्रा→माल (मा→मु→मा) यानी, खरीदने के लिए बेचना।

इस परिचालन में उत्पादक अपना माल बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है और फिर मुद्रा से अपने उपभोग के लिए माल खरीदता है। यहां हम माल से चलकर पुनः माल पर लौट आते हैं। परिचालन की इस प्रक्रिया में मुद्रा में कोई वृद्धि नहीं होती।

मुद्रा के जन्म और व्यापक प्रचलन ने जिन नयी प्रक्रियाओं को जन्म दिया, उसके अध्ययन में जाने से पहले, इस अवधि में हुए कुछ परिवर्तनों का जायजा ले लेना जरूरी है।

6. वर्ग (Class) :

उत्पादन के साधनों (खासकर धातु के औजारों) और व्यापार के विकास से समाज में भी नये-नये परिवर्त्तन हुए। श्रम-विभाजन के कारण निजी श्रम और फिर निजी सम्पत्ति का जन्म हुआ। उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। कबीलों में उत्पादन के कुछ अतिरिक्त औजार व अतिरिक्त उत्पादित वस्तुएं सामने आयीं। अब यह सम्भव हो गया कि पराजित कबीलों के सदस्यों को गुलाम के रूप में खटाया जाय और इस तरह उत्पादन के अतिरिक्त औजारों को उपयोग में लाया जाय। खुद कबीले के अन्दर भी असमानताएं बढ़ने लगीं। मुद्रा के व्यापक प्रचलन ने इस प्रक्रिया को और तेज कर दिया। आदिम कम्युनिस्ट समाज टूट गया और उसकी जगह दासप्रथा सामने आयी।

आदिम कम्युनिस्ट समाज के टूटने के बाद से ही हम देखते हैं कि समाज में लोगों के भिन्न-भिन्न समूहों का उत्पादन के साधनों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का सम्बन्ध होता है (कोई उनका मालिक होता है, कोई नहीं होता), श्रम के सामाजिक संगठन में इन समूहों की भूमिका भिन्न होती है (कोई श्रम

में हिस्सा लेता है, कोई नहीं लेता), सामाजिक सम्पत्ति में उनका हिस्सा भिन्न-भिन्न होता है (कोई अधिक लेता है, कोई लगभग नगण्य) लोगों के ये समूह ही वर्ग कहलाते हैं। इस प्रकार, वर्ग मूलतः एक आर्थिक श्रेणी (category) है और भिन्न-भिन्न वर्ग उत्पादन की प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न भूमिका निभाते हैं।

वर्गहीन समाज की जगह वर्ग-समाज ने ले ली। मुद्रा के व्यापक प्रचलन के कारण कुछ नयी आर्थिक श्रेणियां भी सामने आयीं। अब यह सम्भव हो गया कि कुछ लोग मुद्रा इकट्ठा कर विभिन्न मालों का बड़े पैमाने पर व्यापार कर सकें या फिर सूद पर रुपये लगा सकें। फलतः, व्यावसायिक पूंजी व सूदखोर पूंजी का जन्म हुआ।

7. **मुद्रा का परिचालन** (Circulation of money) :

जो सम्पत्ति और अधिक सम्पत्ति पैदा करने के काम आती है, जो मुद्रा और अधिक मुद्रा पैदा करने के काम आती है, वह पूंजी कहलाती है। सूदखोरी में मुद्रा को सूद पर लगाकर और अधिक मुद्रा हासिल की जाती है। इसमें मुद्रा का परिचालन निम्नलिखित तरीके से होता है :

मुद्रा → मुद्रा^{1}

(मु → मु^{1}) (मु > मु^{1}) यानी, मु मु^{1} से बड़ी है।

मु^{1} − मु = सूदखोर का मुनाफा (अतिरिक्त मूल्य)। (सूदखोरी के और भी अनेक रूप हैं।)

व्यापार में, मुद्रा को व्यापार में लगाकर और अधिक मुद्रा हासिल की जाती है। इसमें मुद्रा का परिचालन निम्न रूप ग्रहण करता है :

मुद्रा → माल → मुद्रा^{1}

(मु → मा → मु^{1}) (यहां मु^{1} > मु) मु^{1} − मु = व्यापारी का मुनाफा।

यानी मुनाफे पर बेचने के उद्देश्य से खरीद करना। मुद्रा का मालिक—व्यापारी—माल खरीदता है और फिर उसे मुनाफे पर बेचकर और अधिक

मुद्रा हासिल करता है। यही प्रक्रिया चलती रहती है; माल में वह कोई परिवर्त्तन नहीं करता, माल-उत्पादन में उसकी कोई उत्पादक भूमिका नहीं होती। जरूर, इस प्रक्रिया के जरिये वह जो मुनाफा हासिल करता है, उसका एक हिस्सा वह अपने जीवन-निर्वाह पर खर्च कर देता है, लेकिन माल के क्रय-विक्रय के पीछे उसका उद्देश्य सिर्फ अपने लिए जीविकोपार्जन की कुछ वस्तुएं प्राप्त करना नहीं है। उसका उद्देश्य होता है मुनाफा कमाना।

व्यापारी पूंजी के विकास के परिणामस्वरूप दूर-दूर बसी मानव-जातियां भी करीब आ गयी और एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। इसने दूर-दर के प्रदेशों के अलगाव व जड़ता को तोड़ दिया।

व्यापार और सूदखोरी की स्थापना दासप्रथा में ही हो चुकी थी और सामंतवाद के पूरे दौर में भी ये चीजें चलती रहीं। इनके रूपों व मात्रा में परिवर्त्तन अवश्य हुए। महाभारत की एक पंक्ति देखिये—"सूदखोरी, कृषि, व्यापार और पशु-पालन के जरिये आप सम्पत्तिशाली बनें, ओ राजाओं के राजा।"

दासप्रथा के उत्तरार्द्ध में, मनुष्य ने लोहे का पता लगाया, लोहा गलाना और लोहे का औजार (जैसे हल आदि) बनाना सीखा। लोहे के औजारों का व्यापक रूप से इस्तेमाल होने लगा। उत्पादन के साधनों में भारी परिवर्त्तन आ गया। श्रम-विभाजन और बढ़ गया। लेकिन इस नयी स्थिति में नये उत्पादन के साधनों से उत्पादन करने के लिए ऐसे लोगों की दरकार हुई जिनकी उत्पादन में कुछ दिलचस्पी व पहलकदमी हो। केवल उसी हालत में उत्पादन का विकास हो सकता था। उन दासों में जिनकी खरीद-बिक्री होती थी और जिनकी हत्या तक कर देने का मालिकों को अधिकार था, ऐसी दिलचस्पी व पहलकदमी न हो सकती थी। ऐसी दिलचस्पी व पहलकदमी पैदा करने के लिए जरूरी था कि उत्पादन के साधनों पर कुछ हद तक उनकी मिल्कियत स्वीकार कर ली जाय। फलतः नयी उत्पादक शक्तियों के विकास की मांग के अनुरूप नयी सामंत उत्पादन-प्रणाली सामने आयी। इस

उत्पादन-प्रणाली में सामंती जमीन्दारों (जो उत्पादन के साधनों के प्रमुख मालिक थे) के अलावा भूदास और कारीगर होते थे। इन भूदासों और कारीगरों के पास उत्पादन के कुछ अपने साधन भी होते थे और वे बेगारी तो करते ही थे, साथ-साथ अपनी उपज का एक बड़ा हिस्सा सामंतों को दे देने के लिए भी बाध्य थे। इस उत्पादन-प्रणाली में भी उत्पादन मुख्यतः उपभोग के लिए होता था, लेकिन नयी उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप माल उत्पादन व व्यापार का कुछ हद तक विकास हुआ। बढ़े हुए श्रम-विभाजन (भारत में जिसकी अभिव्यक्ति जाति-प्रथा के रूप में देखते हैं) के परिणामस्वरूप मनुष्य ने नये-नये क्षेत्रों में और अधिक कुशलता प्राप्त की।

भारत में ई० पू० छठी सदी से चौथी सदी के बीच सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल और नये-नये राजतंत्रों का उदय इसी संक्रमण-काल को चिह्नित करता है। अशोक के शासन काल में कलिंग-विजय के बाद एक लाख से भी अधिक दासों को दक्षिणी प्रदेश में बसाया गया ताकि विशाल परती जमीन को कृषि योग्य बनाया जा सके। मगध साम्राज्य में हमें एक शक्तिशाली व्यापारी वर्ग का अस्तित्व भी दिखाई देता है। बाद में, सातवाहन, पाण्ड्य, चोल, विजयनगर राज्यों में व्यापार का बड़े पैमाने पर विकास हुआ। दक्षिणी राज्यों के व्यापारी जावा, सुमात्रा, मलाया, अफ्रीका और अरब देशों तक से व्यापार करते थे—परिणामस्वरूप, इन राज्यों में जहाजरानी उद्योग का भी अच्छा-खासा विकास हुआ। मुगल काल में भी हमें अत्यंत समृद्ध व्यापारी मिलते हैं—जगत सेठ व विरजी बोरा जैसे व्यवसायियों ने तो विराट पूंजी इकठ्ठी कर ली थी। विलासिता के सामान तैयार करने व अस्त्र-निर्माण के लिए राजे-महाराजे खान और कारखाने भी चलाते थे। अकबर के जमाने में ऐसे ही एक शाही कारखाने में काम करनेवाले श्रमिकों की तादाद 4,000 थी। राजे-महाराजे खुद भी व्यवसाय में भाग लेते थे।

सामंतवाद में हमें लगान के तीन रूप दिखाई पड़ते हैं: 1. श्रम-लगान —किसान बेगारी करके लगान अदा करता है। बंधुआ मजदूरी इसी प्रथा का

जारी रूप है 2. उपज-लगान — किसानों को उपज का एक हिस्सा जमींदारों को दे देना पड़ता है। बटाई-प्रथा। 3. नकद लगान (मुद्रा लगान) किसानों को तय की हुई राशि नकद रुपये-पैसे में देनी होती है। अकबर के शासन-काल में नकद लगान की शुरूआत हुई। लेकिन भारत में श्रम-लगान अथवा उपज-लगान ही ज्यादा प्रचलित रहे। नकद-लगान व्यापार के विकास में, माल-उत्पादन के विकास में, सहायक होता है।

दास-प्रथा में दासमालिक दासों द्वारा पैदा किये गये अतिरिक्त उत्पादन पर कब्जा जमा लेता था। समान्त लगान के जरिये किसानों द्वारा पैदा किये हुए अतिरिक्त उत्पादन पर कब्जा कर लेते थे, इसके अलावा वे व्यावसायिकों से टैक्स भी वसूलते थे।

भूदास प्रथा, वंशानुगत पेशे पर आधारित दस्तकार कारीगर, छोटे-छोटे शिल्प-संघ (Guild) सामंती राजाओं के नियन्त्रण में विलासिता की सामग्री और शस्त्र तैयार करनेवाले कुछेक कल-कारखाने, कुछेक खान-खदान, व्यापार—कुल मिलकर सामंती उत्पादन-प्रणाली की यही तस्वीर है।

सामंतवाद की पूरी अवधि के दौरान माल उत्पादन में कोई नये छलांग नहीं लगती।

अध्याय 2

1. वाणिज्यिक क्रान्ति (Commercial Revolution) :

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में अमरीका की खोज (1498 ई० में, कोलम्बस द्वारा), उत्तमाशा अन्तरीय होकर अफ्रीका की परिक्रमा करते हुए भारत, इन्डोनेशिया, चीन, जापान आदि देशों के साथ समुद्री सम्पर्क की स्थापना, मैक्सिको और पेरू की लूट आदि ने पश्चिमी यूरोप के आर्थिक जीवन को पूरी तरह बदल दिया। इसने मालों की एक विश्वव्यापी मंडी का निर्माण किया। यह वाणिज्यिक क्रान्ति थी जो धातुओं के आविष्कार के बाद मानवजाति के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना थी।

मालों की विश्वव्यापी मण्डी के निर्माण के कारण माल-उत्पादन में तेजी से विकास हुआ।

मालों के इस अभूतपूर्व व्यापार पर शीघ्र ही कुछ ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों ने इजारेदारी कायम कर ली, जैसे—नीदरलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी (Oost Indische Companie), ग्रेट ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) और हडसन बे कम्पनी (Hudson Bay Company) और फ्रांस की ईस्ट इण्डिया कम्पनी (Campagnie des Indes Orienteles)। इन कम्पनियों ने पुर्त्तगालियों व स्पेनियों को पीछे खदेड़ दिया। मसाले के व्यापार के साथ-साथ इन कम्पनियों ने दासों का व्यापार भी शुरू किया। नीग्रो लोगों की खरीद-फरोख्त होने लगी। हत्याकाण्ड, समुद्री डाकेजनी, धोखाधड़ी, दास-व्यापार आदि प्राक्-पूंजीवादी संचय द्वारा हासिल अतिरिक्त मूल्य के स्रोत थे।

2. पूंजी का आदिम संचय और उजड़ा श्रम (Primitive accumulation of capitai and impoverished lobour) :

16 वीं, 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी के दौरान हम एक ओर कुछ

मुट्ठीभर हाथों में पूंजी को केन्द्रित होते देखते हैं; दूसरी ओर देखते हैं व्यापक कारीगरों, दस्तकारों व किसानों का उजड़कर मजदूरी पर खटनेवाले श्रमिकों में रूपांतरण। इसी प्रक्रिया के साथ-साथ पूंजीवादी उद्योगों का क्रमिक विकास भी दिखाई देता है, यानी इस जमा हो रही पूंजी की अच्छी-खासी मात्रा का उद्योगों में, उत्पादन क्षेत्रों में निवेश (investment)।
सबसे पहले हम पूंजी के आदिम संचय पर विचार करेंगे। यह मुख्यतः निम्नलिखित विधियों से सम्पन्न हुआ :

क. समुद्री डकैती, लूटमार आदि।

ख. **कीमत में उथल-पुथल**। अमरीका और भारत का पता लगने के बाद सोने-चांदी की नयी-नयी खानों का पता चला। इन खानों में दासश्रमिकों के जरिये बड़े पैमाने पर सोने के उत्पादन से सोने के मूल्य में काफी गिरावट आयी। यानी सोने के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल कम हो गया। विभिन्न देशों की मुद्रा की कीमत गिर गयी। फलतः मालों के मूल्य में अच्छी-खासी वृद्धि हुई, यानी किसी माल को खरीदने में पहले सोने या जितनी मुद्रा की दरकार थी, अब उससे अधिक की दरकार हो गयी। इस मूल्यवृद्धि से वेतनभोगी कर्मचारी तबाह हुए, कुलीनों की सोना-चांदी व मुद्रा में जमा सम्पत्ति का मूल्य भी गिर गया। इस तरह, कुलीनों और वेतनभोगी कर्मचारियों की सम्पत्ति वाणिज्यिक व औद्योगिक पूंजीपतियों के हाथों में स्थानांतरित हो गयी।

(ग) जमीन से किसानों की बलपूर्वक बेदखली और सामुदायिक जमीन की छीनाझपटी। व्यापार के विकास के कारण इंगलैंड के व्यावसायिकों व व्यावसायिक स्वार्थों से जुड़े राजकुमारों ने ऊन का निर्यात बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर भेड़ पालने की जरूरत महसूस की। लेकिन बड़े पैमाने पर भेड़ पालने के लिए जरूरी थे बड़े-बड़े चारागाह और बड़े-बड़े चारागाह बनाने के लिए जरूरी था किसानों को जमीन से बेदखल करना और सामुदायिक व धार्मिक जमीन को हड़प लेना। इंगलैंड में 14 वीं शताब्दी में ही भूदास-प्रथा समाप्त हो गयी थी और 15 वीं शताब्दी में सामंतों से पट्टे पर जमीन लेकर कृषि करने

वाले मुक्त किसानों की बहुतायत थी। चारागाह बनाने के लिए जरूरी था किसानों को जमीन से बेदखल करना। 14·89 ई० में हेनरी सप्तम के काल में आबाद भूमि को जबरन चारागाहों में बदल दिया गया। व्यावसायिक स्वार्थ से जुड़े ऐसे कुछ सामंत कुलीनों के पास 24,000 तक भेड़ें थीं। इस प्रक्रिया में 25% से 50% तक किसान बेदखल किये गये। इस प्रकार एक ओर कुछ लोगों के हाथों में उत्पादन के साधनों – भेड़ों, चारागाह की जमीन आदि का — केन्द्रीकरण हुआ और दूसरी ओर व्यापक किसान उजड़े श्रमिकों में बदल गये। किसानों के प्रतिरोध के कारण कभी-कभी राज्य को कुछ सीमाएं बांधनी पड़ती थीं। जैसे, 1533 ई० में यह नियम बनाया गया कि कोई भी व्यक्ति 2,000 से अधिक भेड़ें नहीं रख सकता है। हेनरी सप्तम के ही काल में 20 एकड़ से अधिक जमीन वाले किसानों के घर को ध्वस्त न करने का कानून बना। फिर भी ये सब नियम कभी लागू नहीं हो सके। 16 वीं शताब्दी में धर्मसुधार-आंदोलन (प्रोटेस्टेंट आंदोलन) के दौरान, रोमन कैथोलिक चर्च के हाथ में जो जमीन थी उस पर भी इन लोगों ने दखल कर लिया था। 18 वीं शताब्दी के अन्त में स्टुअर्ट वंश के दौरान तो किसानों को बेदखल करने का अधिकाधिक अभियान छेड़ा गया। 1801-1831 के बीच 35,11,770 एकड़ जमीन से किसानों को 'संसदीय तरीके से' बेदखल कर दिया गया।

(घ) औपनिवेशिक लूट : 17 वीं व 18 वीं शताब्दी में ही विभिन्न यूरोपीय देशों ने व्यापार पर इजारेदारी कायम करने के उद्देश्य से अपने उपनिवेश बनाने शुरू कर दिये थे। इन उपनिवेशों का राजनीतिक शासन चूंकि उन्हीं के हाथों में था, इसीलिए उपनिवेशों की अतिरिक्त सम्पत्ति मनमाने तौर पर और जबर्दस्ती यूरोपीय देशों में लायी जाने लगी। इस औपनिवेशिक शोषण की हम बाद में विस्तृत चर्चा करेंगे।

(ङ) सार्वजनिक ऋण : यानी, जन-समुदाय के बीच से ऋण उठाना। जैसे सार्वजनिक बॉण्ड या ऋणपत्र बेचकर ऋण के रूप में आम लोगों के बीच से पूंजी इकट्ठा करना। इससे पूंजी की कमी की समस्या हल हो गयी और इन बॉण्डों या ऋणपत्रों के खरीदारों को इस पूंजी से आये मुनाफे की एक

राशि सूद के रूप में दी गयी या सूद सहित उनकी पूरी राशि लौटा दी गयी। बैंक के जरिये आम लोगों की नकद बचत भी पूंजी के बतौर काम में लगायी जाने लगी। इस प्रकार आम लोगों की छोटी-मोटी नकद बचत और जन-साधारण की अनुत्पादक सम्पत्ति सार्वजनिक ऋण के जरिये पूंजी में बदल दिये गये।

(च) संरक्षणवाद : इसका मतलब है दूसरे देशों के मालों को अपनी मण्डियों में न घुसने देना या नियंत्रित ढंग से घुसने देना। इसके जरिये किसी देश के घरेलू बाजार की रक्षा की जाती है। ऐसा करने के लिए विदेशों से आनेवाले मालों पर चुंगी काफी बढ़ा दी जाती है, ताकि उनका माल प्रभावित न हो। इस तरह, राष्ट्र की अतिरिक्त सम्पत्ति को दूसरे देशों में जाने से रोका जाता है और अपने मालों के लिए घरेलू बाजार सुरक्षित कर लिया जाता है!

सारांश यह कि पूंजी के आदिम संचय की पूरी प्रक्रिया झूठ, फरेब, साजिश, और खून से सनी है।

वाणिज्यिक क्रांति के फलस्वरुप मालों की उत्तरोत्तर बढ़ती मांग को पूरा करने में वंशानुगत पेशेवाले परम्परागत दस्तकार-कारीगर असमर्थ थे। ऐसी स्थिति में कहीं पर व्यापारियों ने ही और कहीं पर कारीगरों ने—

(i) सरल सहकारिता (Simple Co-operation) **पर आधारित छोटे-छोटे कारखाने** कायम किये। इन कारखानों में अलग-अलग काम करनेवाले कारीगरों को एक जगह इकट्ठा कर काम किया गया। एक निश्चित श्रम-काल तक उस्ताद कारीगर की देखरेख में काम करके एक निश्चित मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन करने से श्रम सम्बन्धी अनुशासन पैदा हुआ और कई कारीगरों की एक जगह मौजूदगी से उनके बीच प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी। इससे उत्पादन कुछ बढ़ा। लेकिन अभी भी एक कारीगर पूरा माल तैयार करता था, उस कारीगर का अपनी जमीन और अपने उत्पादन-साधनों से अभी तक नाता पूरा टूटा नहीं था और वह अभी भी ऐसे काम करता था जो उसके

लिए वंशानुगत काम थे। कुछ दिनों के बाद ये कारखाने भी बढ़ती मांग को पूरा नहीं कर सके। तब—

(ii) मैनुफैक्चर (हस्तनिर्माण, Manufacture) की प्रथा चालू हुई। इसके अन्तर्गत एक मजदूर किसी माल का एक हिस्सा ही तैयार करता था और पूरा माल सभी मजदूरों के श्रम से तैयार होता था। सारा काम हाथ से ही किया जाता था। फिर भी कारखाने के अन्दर श्रम-विभाजन के कारण हुनरमंद लोगों के हुनर का महत्व अब घट रहा था। लेकिन इसके बावजूद ये मजदूर अभी भी पूरी तरह अपने पेशे और उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हो पाये थे। हां, मैनुफैक्चर के साथ होड़ में कुछ स्वाधीन कारीगर उजड़े हुए श्रमिकों में जरूर बदल गये। लेकिन मालों की बढ़ती मांग को पूरा करने में ये मैनुफैक्चर भी अधिकाधिक असमर्थ होते गये। तब आया—

(iii) **आधुनिक उद्योग** (Modern Industry) का दौर जो **औद्योगिक क्रांति** के जरिये पूरे यूरोप में प्रभावशाली हो गया। बड़े-बड़े उद्योग-धंधे कायम हुए जिनमें हाथ की बजाय मशीनों से काम होता था और हाथ का काम सिर्फ मशीन संचालित करना रह गया।

मशीन वह तंत्र (Mechanism) है जिसे गति मिलने पर उस के औजार वैसे ही काम करते हैं जैसे श्रमिक अपने औजार से करते हैं। मनुष्य से मशीन की श्रेष्ठता यह है कि उसमें कई औजार एक ही **चालक शक्ति** (Prime mover) से चलते हैं। स्टीम (भाप) ईंजन ने खुद अपने आविष्कार से कोई क्रांति नहीं की, क्योंकि उसके आविष्कार के वक्त मैनुफैक्चर चल रहा था जो 1780 तक चला। औद्योगिक क्रांति मशीन के आविष्कार से हुई, जिन्हें चलाने के लिए भाप ईंजन का प्रयोग निहायत जरूरी हो गया। एक केन्द्रीय स्वचालित नियंत्रक यंत्र से मशीनों की पूरी शृंखला को चलाना मशीनरी का सर्वोच्च विकसित रूप है। इसप्रकार, मशीनरी ने हाथों से श्रम का स्थान ले लिया और मजदूर का काम सिर्फ इस मशीन को चलाना रह गया। मैनुफैक्चर में, श्रम-विभाजन द्वारा काम की

पूरी प्रक्रिया मजदूरों के उपयुक्त बनायी जाती थी और इसलिए यह एक लादी गयी शर्त्त थी। अब, जब मशीनों से ही विभिन्न काम लिये जाने लगे, तो काम की निरन्तरता अपरिहार्य हो गयी। कार्य-प्रक्रिया की इस निरन्तरता के बिना उत्पादन संभव नहीं था। मजदूरों के बीच यह श्रम-विभाजन का स्थान अब विभिन्न किस्म के मशीनों की एक शृंखला ने ले ली। इससे एक काम से दूसरे काम के बीच के समय में भी काफी बचत होने लगी और कार्यक्षमता काफी हद तक बढ़ गयी।

मशीन के इस्तेमाल से कच्चेमाल की बर्बादी भी बहुत ही नगण्य हो गयी। जैसे, सरल सहकारिता व मैनुफैक्चर के दौर में हाथ से और पुराने औजारों से काम लेने के कारण जितनी रूई बर्बाद होती थी, अब मशीन से काम लेने के दौरान यह बर्बादी बहुत ही कम हो गयी।

मशीन के प्रयोग के लिए आरम्भ में निश्चय ही अपेक्षाकृत अधिक पूंजी की दरकार होती है, लेकिन ये मशीनें दीर्घकालिक होती हैं और इनकी उत्पादक क्षमता काफी अधिक होती है। 1793 में ऐली ह्विटने ने कॉटन जीन (कपास ओटने की मशीन) का आविष्कार किया ; पहले के एक पौण्ड कपास की जगह अब 100 पौण्ड कपास एक दिन में ओटा जाने लगा। पहले एक पौण्ड रूई तैयार करने में 50 सेन्ट खर्च होते थे, अब उसे 10 सेन्ट में बेचकर भी मुनाफा होने लगा।

इस प्रकार कामों के बीच के समय को बिल्कुल नगण्य बनाकर, कच्चे मालों की बर्बादी को लगभग खतम कर और औजारों के घिसने व बदलने पर होनेवाले खर्च को काफी कम कर मालों के उत्पादन में लगे लागत-खर्च को काफी कम कर दिया। दूसरी ओर उसने श्रम की उत्पादकता काफी बढ़ा दी।

औद्योगिक क्रांति के दौरान मशीनों के व्यापक इस्तेमाल ने दस्तकारी व मैनुफैक्चर की तुलना में काफी सस्ते माल तैयार कर दस्तकारों व मैनुफैक्चर कर्त्ताओं को उजाड़ दिया। ऐसा सिर्फ उन्हीं देशों में नहीं हुआ जहां औद्योगिक क्रांति हुई, बल्कि उन देशों में भी हुआ जहां ऐसी क्रांतियां नहीं हुई थीं,

लेकिन जहां व्यापार के जरिये पूंजीवादी देशों के माल पहुंच जाते थे। इस प्रकार, मशीनों के प्रयोग ने बड़े पैमाने पर उजड़ मजदूरों की फौज खड़ी कर दी—ऐसे मजदूरों की फौज जो अपने उत्पादन के साधनों से वंचित हो गये थे और जिनके परम्परागत हुनरों का महत्त्व अब नहीं रह गया था—यानी, सर्वहारा वर्ग।

दूसरी ओर, चूंकि ये मशीनें काफी महंगी होती थीं, इसलिए इन मशीनों को वे ही पैदा कर सकते थे या खरीद सकते थे जिन्होंने आदिम संचय, मैनुफैक्चर व व्यापार के जरिये भारी दौलत इकट्ठा कर ली थी। इस प्रकर, एक नये औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ।

कुल मिला कर, आदिम संचय, व्यापार, मैनुफैक्चर और आधुनिक उद्योग के जरिये एक ओर तो आबादी का एक हिस्सा (किसान, दस्तकार, यहां तक कि दिवालिया सामंत और मैनुफैक्चरकर्त्ता भी) सर्वहारा में बदल गया और दूसरी ओर कुछ लोगों (कारीगरों व उस्ताद कारीगरों के एक हिस्से, व्यापारियों, जागरूक जमींदारों व सूदखोरों आदि) के हाथों में पूंजी का केन्द्रीकरण हुआ। किसी भी देश में पूंजीवाद के विकास के लिए ऐसा होना एक अनिवार्य शर्त्त है।

इस दौर में सूदखोर पूंजी ने भी इस प्रक्रिया को मदद पहुंचायी—यानी, उसने भी एक ओर किसानों व कारीगरों को, यहां तक कि कुछ सामंतों को भी ऊजाड़ा और दूसरी ओर कुछ हाथों में पूंजी को केन्द्रित किया।

आदिम संचय, व्यापार व सूदखोरी के जरिये जो पूंजी कुछ हाथों में केन्द्रित हुई, वह सारी-की-सारी उत्पादक क्षेत्रों में—मैनुफैक्चर अथवा आधुनिक उद्योग में—निवेशित ही हुई, ऐसी बात नहीं है। जो पूंजी औद्योगिक क्षेत्रों में निवेशित नहीं हुई, वह आगे चलकर औद्योगिक पूंजी के विकास की राह में बाधक ही बनी। इंगलैण्ड का ही उदाहरण लिया जा सकता है। भारत के साथ व्यापार पर अपनी इजारेदारी के कारण, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटेन के नवोदित औद्योगिक पूंजीपतियों से मनमाना शुल्क वसूला करती थी। विदेश व्यपार के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर

यह निर्भरता ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजी की राह में एक मजबूत बाधा बन गयी थी। फलस्वरूप, ब्रिटेन के पूंजीपतियों ने इस निर्भरता के खिलाफ संघर्ष किया और अन्ततः ईस्ट इण्डिया की इजारेदारी तोड़ दी गयी।

उत्पादन के नये साधन—मशीन—खुद-ब-खुद उत्पादन नहीं कर सकते थे। नयी परिस्थितियों में उत्पादन सिर्फ तब ही संभव था जब उजड़े मजदूर औद्योगिक पूंजीपतियों के हाथों अपनी श्रमशक्ति बेचें। औद्योगिक पूंजीपति व सर्वहारा के बीच के इस नये सम्बन्ध के जरिये ही नयी उत्पादक शक्तियों का विकास सम्भव था। इस प्रकार नयी उत्पादक शक्तियों ने नये उत्पादन-सम्बन्धों को जन्म दिया। उजड़े मजदूरों से जबरन काम लेने के लिए अनेक कानून बनाये गये। भिखारियों के विरुद्ध बनाये गये एक कानून के अनुसार, तीन बार पकड़े जाने पर उन्हें मृत्युदण्ड देने का प्रावधान था।

पूंजीपति की दिलचस्पी ज्यादा-से-ज्यादा माल-उत्पादन में होती है ताकि वह माल बेचकर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमा सके। इसलिए वह दुनिया की हर चीज को माल में बदल देता है। वह सामंती समाज में तमाम अनुत्पादक सम्पत्ति—खेत, बहुमूल्य धातु आदि को—माल में बदल देना, सभी का उत्पादक इस्तेमाल करना, चाहता था। वह उन तमाम अनावश्यक करों, चुंगियों व अन्य शिकंजों को खत्म कर देना चाहता था जो माल-उत्पादन में; तथा पूंजी-निर्माण में बाधा डालते थे। वह कारीगरों व भूदासों को उत्पादन-साधनों से वंचित कर सर्वहारा बना देना चाहता था, लेकिन सामंती मालिक तो इन्हीं कारीगरों व भूदासों के बेगार श्रम पर जीते थे। वह वंशानुगत व पितृसत्तात्मक अधिकारवाली जागीरों को तोड़कर इन जागीरों में कैद और अनुत्पादक पड़ी विराट सम्पत्ति को अपने व्यवसाय के स्वार्थ में उत्पादक बनाना चाहता था। लेकिन ऐसा करने के लिए उसे सामन्ती भूस्वामियों की ताकत को तोड़ना पडता, जो अपने वंशानुगत सम्पत्ति-सम्बन्धों को छोड़ना नहीं चाहते थे। वह अपने व्यापार पर कोई नियंत्रण नहीं चाहता था, वह मुक्त व्यापार का अधिकार चाहता था, लेकिन सामंती जागीरदार कदम-कदम पर उससे टैक्स वसूलते थे। कुल मिलाकर सामंती मालिक समाज की

अतिरिक्त सम्पत्ति पर अपना परम्परागत अधिकार बरकरार रखना चाहते थे जबकि पूंजीपति इस अतिरिक्त सम्पत्ति को पूंजी में बदल देना चाहता था। वह चाहता था कि इस अतिरिक्त सम्पत्ति से अधिक-से-अधिक उद्योग खोले जायं, अधिक-से-अधिक माल-उत्पादन किया जाय और अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाया जाय। इस प्रकार, नयी पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली अपनी विकास-प्रक्रिया में पुराने सामंती उत्पादन-सम्बन्धों से टकराने लगी। यह टकराव दो वर्गों—पूंजीपति और सामंत—के बीच के संघर्ष के रूप में अभिव्यक्त हुआ। सामाजिक क्रान्ति का युग शुरू हो गया। पुराने उत्पादन सम्बन्धों की रक्षा करनेवाले पुराने राज्य ढांचे का ध्वंस कर पूंजीपति वर्ग ने राज्य पर अधिकार कायम कर लिया, पुराने उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़कर नया उत्पादन-सम्बन्ध बहाल किया और नयी उत्पादक शक्तियों के विकास का द्वार खोल दिया। 1608 में हॉलैण्ड में, 1649 में ब्रिटेन में, 1789 में फ्रांस में पूंजीवादी क्रान्ति हुई। और इसके बाद धीरे-धीरे पूरा यूरोप पूंजीवाद में प्रवेश कर गया। आधुनिक पूंजीवादी युग शुरू हुआ।

3. **पूंजी का परिचालन और अतिरिक्त मूल्य** (Circulation of capital and surplus value):

पूंजी के परिचालन को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

$$\text{मु} \rightarrow \text{मा} \rightarrow \text{मु}^1 \text{ (जहां मु}^1 > \text{मु)}$$

हम देख चुके हैं कि व्यापारी पूंजी में भी मुद्रा का परिचालन इसी रूप में होता है। लेकिन औद्योगिक पूंजी में मुद्रा के इस परिचालन में एक गुणात्मक फर्क है। व्यापारी मुद्रा से जो माल खरीदता है, उसी माल को बेचकर मुद्रा हासिल करता है। लेकिन औद्योगिक पूंजीपति मुद्रा से जो माल खरीदता है, उसे ही नहीं बेचता, बल्कि उससे एक नया माल तैयार कर बेचता है। इस प्रकार यह पूंजी एक उत्पादक पूंजी होती है। पूंजी की यह उत्पादकता ही इस पूंजी को अन्य तमाम तरह की पूंजी से पृथक् करती है। औद्योगिक पूंजी के परिचालन को इस प्रकार ज्यादा स्पष्ट किया जा सकता है :

मुद्रा → कच्चा माल + श्रमशक्ति → नया माल → मुद्रा^{1}

मु^{1} — मु = अतिरिक्त मूल्य। पूंजीपति का मुनाफा।

यानी औद्योगिक पूंजीपति मुद्रा से उत्पादन के औजार, कच्चा माल और श्रमशक्ति खरीदता है, फिर इससे नया माल तैयार करता है और उसे बेचकर पुनः बढ़ी हुई मात्रा अर्जित करता है।

मार्क्स के शब्दों में, "मालों का सामान्य परिचालन (माल → मुद्रा → माल)— खरीदने के उद्देश्य से बेचना—परिचालन के उद्देश्य से पृथक एक उद्देश्य को पूरा करने का साधन है; वह उद्देश्य है: उपयोग-मूल्यों की प्राप्ति, आवश्यकताओं की पूर्ति। इसके विपरीत, पूंजी के रूप में मुद्रा का परिचालन अपने आप में एक लक्ष्य बन जाता है क्योंकि निरन्तर बढ़ती जानेवाली इस प्रक्रिया के अन्तर्गत ही मूल्य का विस्तार होता है। पूंजी के परिचालन की कोई सीमा नहीं है। इसलिए इस प्रक्रिया का सचेतन प्रवक्ता, मुद्रा का स्वामी, पूंजीपति बन जाता है। मुद्रा उसकी जब से निकलकर पुनः उसकी जेब में ही आ जाती है (वह भी बढ़ी हुई मात्रा में)। उपयोग-मूल्य की प्राप्ति (आवश्यकताओं की पूर्ति) किसी भी पूंजीपति का असली उद्देश्य कभी भी नहीं होता है। न ही किसी एक व्यवसाय में मुनाफा हासिल कर लेना उसका उद्देश्य होता है। मुनाफा हासिल करने की अन्तहीन प्रक्रिया ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है।"

पूंजीपति पूंजी से कुछ माल खरीदता है, फिर नया माल तैयार कर उसे बेच देता है। इस प्रक्रिया में वह और भी अधिक पूंजी प्राप्त कर लेता है। उत्पादन की इस प्रक्रिया में उसकी पूंजी कैसे बढ़ जाती है? क्या वह मुनाफा ऊपर से जोड़ देता है? यदि पूंजीपति मनमाने तौर पर मुनाफा ऊपर से जोड़कर माल बेचते हैं, तो इसका मतलब यह कि मुनाफे का कोई नियम नहीं है। इसके अलावा, प्रत्येक पूंजीपति एक विक्रेता के साथ-साथ खरीददार भी है। इसलिए दूसरे पूंजीपति भी उससे इसी प्रकार ऊपर से जोड़कर मुनाफा लेंगे। इस प्रकार, एक हाथ से वह जो मुनाफा कमायगा, वही दूसरे हाथ से उसे दूसरे पूंजीपति को दे देना होगा—इस दूसरे पूंजीपति के लिए भी यही बात

लागू होती है। कुल मिलाकर पूंजीपति वर्ग को कोई मुनाफा नहीं बचेगा। इसके अलावा, पूंजीपतियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है। मानलीजिये, एक गज कपड़ा तैयार करने में पूंजीपति को मशीन की घिसाई, कच्चे माल (रूई आदि) आदि में 10 रुपये खर्च बैठता है। इस कच्चे माल व औजार पर आठ घण्टे श्रम करके मजदूर एक गज कपड़ा तैयार कर देता है। यदि आठ घण्टे के श्रम का मूल्य 10 रुपये हो, तो उस माल का वास्तविक मूल्य 20 रुपया होगा। अब यदि कोई पूंजीपति इस वास्तविक मूल्य पर मनमाने रूप से 5 रु० मुनाफा जोड़कर उसे 25 रुपये में बेचे, तो वह 5 रुपये मुनाफा प्राप्त करेगा। लेकिन उसका प्रतिद्वन्द्वी दूसरा पूंजीपति अपने माल को 24 रुपये में ही बेचकर बाजार पर कब्जा करने की कोशिश करेगा। यह प्रतिद्वन्द्विता उन्हें अंततः 20 रुपये पर ही ले आयगी। यदि मुनाफा ऊपर से जोड़ा जाता है तब 20 रुपये में बेचने पर उन्हें कोई मुनाफा नहीं होना चाहिये।

इसलिए मुनाफा उत्पादन की प्रक्रिया में ही निहित होता है। वह कैसे? मार्क्स ने बताया कि मजदूरी **श्रमशक्ति** का मूल्य है। लेकिन श्रमशक्ति का मूल्य कैसे तय होता है? उसी तरह जिस तरह अन्य मालों का मूल्य। **यानी श्रमशक्ति का मूल्य श्रमशक्ति के उत्पादन में लगे सामाजिक रूप से औसत श्रमकाल से तय होता है।** लेकिन श्रमशक्ति तो आदमी के हाड़-मांस में बसनेवाली चीज है। इसलिए श्रमशक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल का मतलब है श्रमिक के अन्दर काम करने और बच्चे पैदा करने की क्षमता बनाये रखने के लिए जितने खाना, कपड़ा आदि सामानों की जरूरत है, उन सामानों के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से औसत श्रम-काल। अब मान लीजिये किसी मजदूर के काम करने और बच्चे पैदा करने की क्षमता बनाये रखने के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन पर औसत चार घण्टे का श्रम-काल लगता है; अथवा, दूसरे शब्दों में, वह मजदूर पांच रुपये में ही अपना जीवन-निर्वाह कर लेता है तो उसकी श्रमशक्ति का मूल्य पांच रुपये होगा, यानी, उसकी मजदूरी पांच रुपये होगी। लेकिन

मजदूर सिर्फ अपने जीवन-निर्वाह-भर ही मूल्य पैदा कर सकते हैं—ऐसी बात नहीं। वे अनिवार्य रूप से अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक से अधिक मूल्य पैदा करते हैं। यदि उनके अन्दर काम करने की शक्ति (यानी, उनकी श्रमशक्ति) बनी रहे, तो वे ४, 10, 12 घण्टे भी काम कर सकते हैं। चूंकि उनके पास जीवन-निर्वाह का कोई दूसरा साधन नहीं है, इसलिए वे अपनी श्रमशक्ति पूंजीपति के हाथों बेचने के लिए बाध्य होते हैं। एक बार जब पूंजीपति उनकी श्रमशक्ति खरीद लेते हैं, तब उनके श्रम पर पूंजीपतियों का अधिकार हो जाता है। यानी अब पूंजीपति उन मजदूरों से कितने घण्टे काम लेंगे, यह पूंजीपतियों पर निर्भर करता है। अब मानलीजिए मजदूर आठ घण्टे श्रम करके 10 रुपये का नया मूल्य पैदा करता है। तब इस आठ घण्टे में चार घण्टे का श्रम-काल आवश्यक श्रम (necessary labour) कहलाता है और इससे पैदा मूल्य आवश्यक मूल्य कहलाता है (क्योंकि यह उसकी श्रमशक्ति का मूल्य है)। बाकी चार घण्टे का श्रम मजदूर को पूंजीपति **के लिए** जबरन करना पड़ता है। यह चार घण्टे का श्रम **अतिरिक्त श्रम** (Surplus lobour) कहलाता है और इससे पैदा मूल्य **अतिरिक्त मूल्य** कहलाता है। यही अतिरिक्त मूल्ल पूंजीपति के मुनाफे का अनन्त स्रोत है। अब यदि माल को वास्तविक मूल्य 20 रुपये में भी बेचा जाय, तब भी पूंजीपति को 5 रुपये का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा।

एक गज कपड़े का मूल्य = संचित श्रम (अचल पूंजी = मशीन की घिसाई,
कच्चा माल आदि = G)
+ श्रमशक्ति का मूल्य (चल पूंजी = V)
+ अतिरिक्त मूल्य (= S)

G(10रु०) + V (5रु०) + S (5रु०) = 20रु०

लेकिन पूंजीपति की लागत – G × V
= 10 + 5 = 15रु०
S = 20 – 15 = 5रु०

इसप्रकार, मुनाफा ऊपर से जोड़ी गयी चीज नहीं, बल्कि खुद उत्पादन-प्रक्रिया में ही निहित रहता है।

लेकिन माल (जिसमें श्रमशक्ति भी शामिल है) की बाजारू कीमत (price) बजार में मांग और पूर्ति से भी प्रभावित होती है। यदि माल की आपूर्ति मांग से अधिक हो, तो पूंजीपति को 20 रुपये का माल 18 रुपये में भी बेचना पड़ सकता है, लेकिन फिर भी उसे 3 रुपये का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा। यदि माल की मांग आपूर्ति से ज्यादा हो, तो वह 20 रुपये का माल 22 रुपये में भी बेच सकता है, और तब उसे 7 रुपये मुनाफा होगा। उसी प्रकार मजदूर (श्रमशक्ति) की मांग अधिक हो, लेकिन उस अनुपात में मजदूर उपलब्ध न हों, तो मजदूरी 5रुपये से बढ़ाकर 8रुपये भी हो जा सकती है और मजदूर अधिक हों, लेकिन मजदूरों की मांग कम हो, तो मजदूरों को 3रुपये पर भी समझौता करना पड़ सकता है।

अतिरिक्त मूल्य की दर : माल को तीन संघटक अंगों में विभक्त किया जा सकता है। पहला, उत्पादन की प्रक्रिया में काम आनेवाली मशीनरी व उत्पादन के अन्य औजार तथा कच्चा माल—यानी, **अचल पूंजी** (Constant Capital = C)। दूसरा, श्रमशक्ति का मूल्य, यानी, चल पूंजी (Variable Capital = V) वह पूंजी जो अपने समतुल्य मूल्य ही नहीं, बल्कि उससे अधिक मूल्य पैदा करती है। तीसरा, **अतिरिक्त मूल्य** Surplus value = S)

माल का कुल मूल्य = अचल पूंजी + चल पूंजी + अतिरिक्त मूल्य
$$= C + V + S$$

इससे हम अतिरिक्त मूल्य की दर, यानी, पूंजीवादी शोषण की दर का पता लगा सकते हैं। **अतिरिक्त मूल्य की दर अतिरिक्त मूल्य के साथ चल पूंजी के अनुपात को, अतिरिक्त श्रम और आवश्यक श्रम के अनुपात को अभिव्यक्त करता है।**

$$\text{अतिरिक्त मूल्य की दर} = \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{चल पूंजी}} = \frac{S}{V}$$

यदि मान लीजिये 5 रुपये की चल पूंजी लगाकर कोई पूंजीपति 5 रुपये का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है, तो

$$\text{अतिरिक्त मूल्य की दर (प्रतिशतमें)} = \frac{5}{5} \times 100$$

$$= 100\%$$

स्वभावतः, पूंजीपति हमेशा अतिरिक्त मूल्य की दर को बढ़ाना चाहेगा। अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ाने का मतलब है कम चल पूंजी से अधिक अतिरिक्त मूल्य हासिल करना। **काम के घण्टे बढ़ाकर जो अतिरिक्त मूल्य बढ़ायी जाती है, उसे निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य** (Abstract Surplus Value) **कहते हैं**। मजदूर आठ घण्टे के जरिये 10 रुपये का मूल्य पैदा करता है। यदि उसकी श्रमशक्ति का मूल्य 5 रुपये है तो अतिरिक्त मूल्य हुआ 5 रुपये और अतिरिक्त मूल्य की दर हुई 100%। अब यदि पूंजीपति उसी मजदूर से उतनी ही मजदूरी में 12 घण्टे काम लेता है, तो 12 घण्टे के श्रम के जरिये अब वही मजदूर 15 रुपये का मूल्य पैदा करता है। चूंकि उसकी श्रमशक्ति का मूल्य अभी भी 5 रुपये है इसलिए अब अतिरिक्त मूल्य हो गया 10 रुपये और अतिरिक्त मूल्य की दर हो गयी

$$\frac{10}{5} \times 100 = 200\%$$

18 वीं शताब्दी तक मुख्यतः इसी तरीके से अतिरिक्त मूल्य बढ़ाया जाता था। श्रम की उत्पादकता बढ़ाकर (लेकिन काम के घण्टों को ज्यों का त्यों बरकरार रखकर) जो अतिरिक्त मूल्य बढ़ायी जाती है, वह सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य (Relative Surplus Value) कहलाती है। मान लीजिये वही पूंजीपति अब एक नयी मशीन ला देता है, जिसके कारण अब आठ घण्टे में ही पहले की तुलना में उत्पादन पांच गुणा बढ़ जाता है। यानी, अब मजदूर 50 रुपये का नया मूल्य पैदा करता है और यदि उसकी मजदूरी दुगुनी भी बढ़ा दी जाय, तो पूंजीपति को 40 रुपये का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा और अतिरिक्त

मूल्य की दर होगी $\frac{40}{10} \times 100 = 400$। इसलिए मशीन पर काम करनेवाले श्रमिक की मजदूरी में दुगुनी वृद्धि भी पूंजीपति की दयालुता का प्रमाण नहीं है। दरअसल श्रम विभिन्न प्रकार के होते हैं और उनकी उत्पादकता भी भिन्न-भिन्न होती है। **हाथ से किया गया श्रम अकुशल श्रम** (Unskilled labour) **कहलाता है और मशीन पर किया गया श्रम—कुशल श्रम** (Skilled labour)। फिर कुशल श्रम की भी कई श्रेणियां हैं। अकुशल श्रम के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की जरूरत नहीं होती। इसलिए अकुशल श्रम करनेवाले मजदूरों के उत्पादन (उसे तैयार करने) पर खर्च भी कम होता है। इसलिए ऐसे मजदूरों की मजदूरी भी कम होती है। लेकिन मशीन पर काम करनेवाले श्रमिक को विशेष प्रशिक्षण की जरूरत होती है क्योंकि बिना प्रशिक्षण के वह काम नहीं कर पायगा। यानी, कुशल श्रमिक को तैयार करने पर खर्च ज्यादा होता है। इसलिए उसकी मजदूरी भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिए यह कहने की जरूरत नहीं कि मांग और पूर्ति के आधार पर बाजार में कुशल श्रमशक्ति की कीमत भी अन्य मालों की तरह घटती-बढ़ती रहती है।

मजदूरों की आरक्षित वाहिनी (Reserve Army of Labour) : अब तक हम देख चुके हैं कि किस प्रकार आदिम संचय के जरिये और फिर लगातार अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने के जरिये पूंजी में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। पूंजी की वृद्धि का मतलब है उद्योग-धन्धों की वृद्धि। इस प्रक्रिया में पूंजीपति अपनी पूंजी के एक हिस्से को अचल पूंजी के रूप में, मशीनों में, बदल देता है। **अपनी विकास प्रक्रिया में चल पूंजी के एक हिस्से को अचल पूंजी में बदलकर और इस प्रकार मशीनों के जरिये मजदूरों को बेदखल कर** वह बेकार **"मजदूरों की आरक्षित वाहिनी" तैयार कर देता है। फलतः, मजदूरों की आपूर्ति मांग की तुलना में हमेशा अधिक रहती है और इस तरह मजदूरी श्रमशक्ति के मूल्य से ऊपर कभी नहीं जाती।**

अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने की होड़ में पूंजीपति लगातार तकनीकी परिवर्त्तन करता जाता है, श्रम को अधिकाधिक वैज्ञानिक आधार पर संगठित करता जाता है। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार यही उसके संकट का भी कारण बन जाता है।

मुनाफे की दर (Rate of Profit) : पूंजीपति की सबसे अधिक दिलचस्पी मुनाफे की दर बढ़ाने में होती है। अतिरिक्त मूल्य के साथ कुल निवेशित पूंजी के अनुपात से मुनाफे की दर तय होती है।

$$\text{मुनाफे की दर (Rate of Profit} = P) = \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{अचल पूंजी + चल पूंजी}}$$

$$= \frac{S}{C+V}$$

यदि C = 1000 रु०, V = 500 रु० और S = 500 रु० हो, तो

$$P = \frac{500}{1000 + 500} \times 100 = 33{\cdot}3\%$$

यानी 100 रु० के कुल पूंजी निवेश पर पूंजीपति को लगभग 33 रु० का मुनाफा मिलेगा।

लेकिन क्या उद्योग की सभी शाखाओं में मुनाफे की दर समान होती है? इसे समझने के लिए हमें **उद्योगों में पूंजी की सजीव संरचना** (organic Composition of Capital) को समझना होगा। अचल पूंजी के साथ चल पूंजी के अनुपात से पूंजी की सजीव संरचना (C/V) निर्धारित होती है। जिस उद्योग में अचल पूंजी चल पूंजी की तुलना में औसत से अधिक है, उसे पूंजी की उच्च सजीव संरचना (high organic Composition of Capital) वाला उद्योग कहते हैं और जिस उद्योग में चल पूंजी की तुलना में अचल पूंजी औसत से कम होती है, उसे पूंजी की निम्न सजीव संरचना (low organic Composition of Capital) वाला उद्योग कहते हैं। मार्क्स

ने सम्पूर्ण सामाजिक उत्पादन को दो भागों में बांटा है : (क)—उत्पादन के साधनों का उत्पादन (इस्पात- भारी मशीन-निर्माण आदि से सम्बन्धित उद्योग) और (ख)—उपभोक्ता सामाग्रियों का उत्पादन (कपड़ा, जूता और अन्य उपभोक्ता सामाग्रियों के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योग)। पहले (क) किस्म के उद्योगों में चल पूंजी की तुलना में औसत से अधिक अचल पूंजी लगी होती है। इसीलिए उनमें मुनाफे की दर काफी कम होती है। दूसरे (ख) किस्म के उद्योगों में अचल पूंजी की तुलना में औसत से अधिक चल पूंजी लगी होती है। इसलिए उनमें मुनाफे की दर काफी ज्यादा होती है।

अब मान लीजिए क—उद्योग में अचल पूंजी 5000 रु०, चल पूंजी 1000 रु० है और यदि अतिरिक्त मूल्य की औसत दर 100% है, तो अतिरिक्त मूल्य भी 1000 रु० होगा। इसलिए क – उद्योग के माल का कुल मूल्य

$$= C + V + S = 5000 + 1000 + 1000 = 7000 \text{ रु०}$$

मुनाफे की दर (P) होगी - $\frac{S}{C+V} = \frac{1000}{5000+1000} \times 100 = 16{\cdot}6\%$

ख—उद्योग में मान लीजिए $C = 3000$ रु०, $V = 1000$ रु० और
$S = 1000$ रु० है।

तब ख—उद्योग के माल का कुल मूल्य
$C + V + S = 3000 + 1000 + 1000 = 5000$ रु०

इस उद्योग में मुनाफे की दर $(P) = \frac{S}{C+V} = \frac{1000}{3000+1000} \times 100$
$= 25\%$

इस प्रकार, दोनों उद्योगों के मुनाफे की दर में भारी अन्तर है। लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं है। क्योंकि अगर मुनाफे की दर में इस प्रकार का अन्तर बना रहे तो समूची पूंजी अपने स्वभाव के अनुसार ही पूंजी की निम्न सजीव संरचनावाले उद्योगों में चली जायगी और पूंजी की उच्च सजीव संरचनावाले उद्योग रहेंगे ही नहीं। इसीलिए पूंजी के बाजार के जरिये मुनाफे की एक

औसत दर कायम होती है। जिस प्रकार बाजार मालों के मूल्य का नियमन करता है और उसका औसत मूल्य कायम करता है, ठीक उसी प्रकार पूंजी का बाजार (शेयर बाजार) पूंजी के मुनाफे की औसत दर कायम करता है। उतार-चढ़ाव इसी औसत दर के आसपास होता है। यह औसत दर निम्नलिखित तरीके से तय की जाती है :

सभी उद्योगों के मालों का मूल्य = (क + ख उद्योगों का) C

+ (क + ख उद्योगों का) V

+ (क + ख उद्योगों का)S

= 8000(5000 + 3000) + 2000(1000

+ 1000) + 2000(1000 + 1000)

= 12000 रु०

मुनाफे की औसत दर $(P) = \frac{S}{C + V} = \frac{2000}{8000 + 2000} \times 100 = 20\%$

उद्योग की दोनों शाखाओं को 20% ही मुनाफा मिलेगा।

यानी, क-उद्योग को अतिरिक्त मूल्य मिलेगा 1200 रु०

$$\frac{1200}{5000 + 1000} \times 100 = 20\%$$

ख-उद्योग को अतिरिक्त मूल्य मिलेगा 800 रु०

$$\frac{800}{3000 + 1000} \times 100 = 20\%$$

यानी, क-उद्योग को 200 रु० का और अतिरिक्त मूल्य हासिल होगा, जबकि ख-उद्योग को अपने वास्तविक अतिरिक्त मूल्य से 200 रु० कम अतिरिक्त मूल्य प्राप्त होगा।

इसका मतलब यह कि ख-उद्योग की पूंजी क-उद्योग में स्थानान्तरित होती है।

पूंजी की निम्न सजीव संरचनावाले उद्योगों से पूंजी की उच्च सजीव संरचनावाले उद्योगों में पूंजी का स्थानान्तरण पूंजी के विकास का सामान्य नियम है।

आम तौर पर छोटे-मझोले उद्योगों में पूंजी की निम्न सजीव संरचना होती है। और बड़े-बड़े उद्योगों में पूंजी की उच्च सजीव संरचना होती है। इसीलिए हम देखते हैं छोटे-छोटे उद्योग उजड़ते जाते हैं और उनकी पूंजी बड़े-बडे उद्योगों में स्थानान्तरित हो जाती है। यहां हमने इस सिलसिले में उदाहरण के लिए उत्पादन के साधन तैयार करनेवाले उद्योग और उपभोक्ता सामग्री तैयार करनेवाले उद्योगों का जिक्र किया है। लेकिन खुद एक ही प्रकार की उपभोक्ता सामग्रियां तैयार करनेवाले विभिन्न उद्योगों के अन्दर भी या एक ही प्रकार के उत्पादन के साधन तैयार करनेवाले विभिन्न उद्योगों के अन्दर भी पूंजी की निम्न संरचनावाले उद्योगों से पूंजी की उच्च संरचनावाले उद्योगों में पूंजी का स्थानान्तरण होता रहता है।

बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती जाती है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि छोटे उद्योग एकदम से लुप्त हो जाते हैं, हालांकि निश्चय ही उनका एक हिस्सा बर्बाद हो जाता है। बहुत-से छोटे-मझोले पूंजीपति उत्पादन की एक शाखा से स्वेच्छापूर्वक निकलकर उत्पादन की कोई और नयी शाखाएं शुरू कर देते हैं। औद्योगिक संकेन्द्रण के चलते बड़े-बड़े उद्यमों के इर्द-गिर्द बहुतेरे मरम्मती कारखाने, सहायक उद्योग आदि भी खड़े हो जाते हैं जिन्हें विशेष किस्म के पार्ट-पुरजों की आपूर्ति करने या विशेष किस्म का मरम्मती काम करने के आर्डर मिलते रहते हैं।

यदि पूंजी की निम्न सजीव संरचना वाले उद्योगों से पूंजी की उच्च सजीव संरचना वाले उद्योगों में पूंजी का बहाव पूंजी के विकास का एक सामान्य नियम है; तो निश्चय ही हरेक पूंजीपति अपने उद्योगों में पूंजी का एक हिस्सा अचल पूंजी के रूप में बदलेगा। लेकिन इसका क्या परिणाम होगा? मान लीजिए ख-उद्योग ने भी अपनी अचल पूंजी 3000 रु० से बढ़ाकर 4000 रु० कर दी। अगर V और S ज्यों का त्यों बने रहें, तो, अब

ुनाफे की औसत दर हो जायगी $\frac{S(2000)}{C(9000)+V(2000)} \times 100 = 18 \cdot 1\%$

ानी मुनाफे की हर औसत दर गिर जायगी ।

स प्रकार, मुनाफे की औसत दर के गिरने की प्रवृत्ति भी पूंजी के विकास ा एक नियम है ।

्वाभाविक तौर पर पूंजीपति वर्ग मुनाफे की औसत दर को गिरने से रोकने ़ उपाय ढूंढ़ता है । ये उपाय निम्नलिखित हैं :

. श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के जरिये अतिरिक्त मूल्य की दर में वृद्धि । ान लीजिए किसी पूंजीपति के उद्योग में पहले अचल पूंजी 300 रु०, ल पूंजी 100 रु० और अतिरिक्त मूल्य भी 100 रु० था । माल का कुल ूल्य 300 + 100 + 100 = 500 रु० था और मुनाफे की दर थी

$$\left(\frac{100}{300+100} \times 100\right) = 25\%$$

ब वह पूंजीपति अपनी अचल पूंजी बढ़ाकर 400 रु० कर देता है, साथ ही, ्म की उत्पादकता बढ़ाने के जरिये वह अतिरिक्त मूल्य भी 100 रु० से ढ़ाकर 125 रु० कर देता है । तब मुनाफे की दर भी वही $\left(\frac{125}{400+100} \times 100\right) = 25\%$ रहेगी । इस प्रकार मुनाफे की दर को ारने से बचाया जा सकेगा ।

ेकिन श्रम की उत्पादकता बढ़ जाने से श्रमशक्ति का मूल्य (मजदूरी) बढ़ाने ी मांग भी उठने लगती है ।

I. अचल पूंजी की कीमतों में कमी, यानी, मशीन की कीमतें गिराकर । ेकिन इससे मशीनों की मांग बहुत बढ़ जाती है ।

II. इजारेदारियां कायम करने के जरिये अतिरिक्त मूल्य की मात्रा में वृद्धि रना । हम इस पर बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे ।

V. औपनिवेशिक अति-मुनाफा (Super Profit) । यानी उपनिवेशों और द्धं-उपनिवेशों से सस्ते दर पर कच्चे माल, श्रमशक्ति आदि प्राप्त करना ।

औपनिवेशिक अति-मुनाफा के बारे में हम 'औपनिवेशिक प्रणाली' शीर्ष अध्याय में विस्तृत चर्चा करेंगे। लेकिन आजकल पिछड़ा देश भी पूंजीवा देशों को चुनौती दे रहे हैं।

कुल मिलाकर, इससे यह जाहिर होता है कि उद्योग की एक शाखा और दूस शाखा के बीच, खुद औद्योगिक देशों में विभिन्न क्षेत्रों या अंचलों के बी तथा औद्योगिक देशों और पिछड़े देशों के बीच असमानता पूंजी के विक की खास शर्त है। यदि ऐसी असमानताएं न हों, यदि उद्योगों में समान हो और उनका समान ढंग से विकास हो, तो मुनाफे की दर गिरती जाय और इस तरह पूंजी लगाने का प्रोत्साहन ही समाप्त हो जायगा।

अतः असमान विकास पूंजीवादी विकास का एक अपरिहार्य चरित्र-लक्षण है **पूंजीवादी प्रणाली में वाणिज्यिक पूंजी :** पूंजीपति की पूंजी को दो भा में बांटा जा सकता है : I. **स्थिर पूंजी** (Fixed Capital) : वह पूंजी मकानों, मशीनों में लगी रहती है, जो लम्बे समय तक कायम रहती तथा कई उत्पादन-चक्रों के बाद ही पुनः हासिल की जा सकती है और I **परिचालित पूंजी** (Circulating Capital) : वह पूंजी जो कच्चे माल अन्य सहायक वस्तुओं और मजदूरी में लगी होती है, जो परिचालित रह है। हरेक उत्पादन-चक्र के बाद पूंजीपति परिचालित पूंजी को वा हासिल कर लेता है।

स्वाभाविक रुप से हरेक पूंजीपति यह चाहता है कि उसकी परिचालित पू शीघ्र वापस आ जाय ताकि वह उसे पुनः निवेशित कर सके। लेकिन पूंजी के शीघ्र वापस आने का मतलब है माल का तुरत बिक जाना। तभी सम्भव है जबकि मालों की परिचालन-अवधि काफी कम कर दी जाय पूंजीपति सहज अतिरिक्त मूल्य के लिए ही लोलुप नहीं रहता, वह प चालित पूंजी के परिचालन की अवधि को अत्यन्त कम करने के लिए परेशान रहता है। पूंजी के परिचालन की अवधि को कम करने से उस लिए परिचालित पूंजी को लगातार स्थिर पूंजी में बदलते जाना—प

चालित पूंजी को स्थिर पूंजी की तुलना में कम करते जाना— सम्भव हो जाता है। यही औद्योगिक क्रांति का सार तत्त्व है।
मालों के परिचालन की अवधि को कम करने के लिए आवश्यक है दुकानों (Shopping Centers), एजेन्टों, गोदामों, सड़क, रेल, विज्ञापन संस्थाओं आदि—यानी, वितरण के क्षेत्रों व साधनों का विकास। यह काम औद्योगिक पूंजीपति वाणिज्यिक पूंजीपति के जरिये सम्पन्न करता है। **वाणिज्यिक पूंजी वह पूंजी है जो परिवहन, दुकानों, विज्ञापनों आदि में लगी होती है।**
औद्योगिक पूंजीपति और वाणिज्यिक पूंजीपति के मुनाफे की दर समान होती है। अगर ऐसा न हो तो सारी पूंजी उसी क्षेत्र में चली जायगी जिसमें मुनाफे की दर अधिक होगी।
मान लीजिए औद्योगिक पूंजीपति की कुल पूंजी = C + V = 5000 + 3000
= 8000 रु० है।
अतिरिक्त मूल्य 1000 रु० है। वाणिज्य में लगी कुल पूंजी 2000 रु० है जिसमें से थोक व्यापार में 1000 रु०, मझोले व्यापार में 400 रु० और खुदरा बाजार में 600 रु० लगे हैं।

मुनाफे की औसत दर = $\frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{कुल पूंजी [औद्योगिक पूंजी की अजल पूंजी (c) + चल पूंजी (v) + वाणिज्यिक पूंजी]}} \times 100$

$$= \frac{1000}{5000 + 3000 + 2000} \times 100 = 10\%$$

इसीलिए औद्योगिक पूंजीपति को 8000 रु० की पूंजी पर 800 रु० (10%) मुनाफा मिलेगा, थोक व्यवसायी को 1000 रु० की पूंजी पर 100 रु०, मझोले व्यवसायी को 400 रु० की पूंजी पर 40 रु० और खुदरा विक्रेताओं को 600 रु० की पूंजी पर 60 रु० मुनाफा मिलेगा।
वाणिज्यिक पूंजी का विकास औद्योगिक विकास को भी नया आवेग देता है। परिवहन-क्षेत्र में भारी पूंजी-निवेश ने परिवहन के साधनों (यानी, ट्रक, रेल, मोटरकार, वायुयान आदि) का निर्माण करनेवाले उद्योगों को विकसित

किया। और परिवहन-उद्योग ने समग्र रूप से भारी उद्योगों के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। रेल, ऑटोमोबाइल, वायुयान आदि उद्योग भारी उद्योगों के सबसे अच्छे ग्राहक हो गये।

औद्योगिक पूंजी की तरह वाणिज्यिक पूंजी का झुकाव भी केन्द्रीकरण की ओर होता है। कुछ वाणिज्यिक पूंजीपति परिवहन व व्यापार पर अपनी इजारेदारी कायम कर लेते हैं। अपनी एकाधिकारी स्थिति का फायदा उठा कर परिवहन-शुल्क या दूसरे प्रकार के महसूलों में मनमानी वृद्धि कर देते हैं तब वाणिज्यिक और औद्योगिक पूंजीपतियों के बीच का अंतरविरोध सामने आता है। अमूमन, इस अंतरविरोध को हल करने के लिए या तो परिवहन क्षेत्र को एकाधिकारी क्षेत्र (चाहे वह औद्योगिक हो या वित्तीय) में विलीन कर दिया जाता है, या फिर अंततः, समग्र रूप से पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में पूंजीवादी राज्य परिवहन का राष्ट्रीयकरण कर लेता है।

परिवहन का भी विकास विश्व-बाजार को एक कर देता है। अब हर देश में हर चीज का उत्पादन करने की बजाय हर देश में उन्हीं चीजों के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया जाता है जिनका उत्पादन वहां अपेक्षाकृत आसानी से व सस्ते दर पर हो सके। फिर अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के जरिये उनका विनिमय कर लिया जाता है। यानी, इस तरह बहुमुखी अर्थव्यवस्था (diversified economy) का स्थान एकात्मक अर्थव्यवस्था (Monolithic economy) ले लेती है। फलतः **अन्तरराष्ट्रीय श्रम-विभाजन** (International division of labour) पैदा हो जाता है।

पूंजीवादी प्रणाली में ऋण-संस्थाएं (Credit Institution in Capitalist System) : पूंजीवादी समाज में ऋण-संस्थाएं अनुत्पादक रूप में नकद राशि जमा रखने वाले लोगों और उधार ली हुई पूंजी की मदद से अपनी पूंजी की वृद्धि करने के मौके की ताक में रहनेवाले लोगों के बीच कड़ी का काम करती हैं।

हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार पूंजीपति यह चाहता है कि उसकी परिचालित पूंजी शीघ्र उसके पास आ जाय ताकि वह पुनः इसे निवेशित

कर सके। लेकिन क्या जब तक यह पूंजी उसके पास नहीं आ जाती है, तब तक वह उत्पादन ठप्प कर देता है? नहीं! परिचालित पूंजी के जाने और आने के बीच के समय में उत्पादन जारी रखने के लिए पूंजी की आवश्यकता को वह ऋण-संस्थाओं से ऋण लेकर पूरा करता है।

माल का उत्पादन होने और उसके बिकने यानी, परिचालित पूंजी के जाने और पुन: आने के बीच के समय में मालों का उत्पादन जारी रखने के लिए जो ऋण दिया जाता है, उसे परिचालन ऋण (circulating credit) **कहते** हैं। यह अल्पकालिक ऋण होता है। **किसी औद्योगिक या वाणिज्यिक उद्यमी को पूंजी बढ़ाने के लिए, विनियोग के लिए, दिया जाने वाला ऋण विनियोग ऋण** (investment credit) **कहलाता है।** यह दीर्घकालिक ऋण होता है। इस प्रकार ऋण-संस्थाएं उत्पादन को जारी रखने में सहायता प्रदान करती हैं। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार ऐसा करके वे पूंजीवादी संकट को भले ही थोड़े समय के लिए टाल देती हैं, लेकिन अन्ततः वे संकट को और गहरा ही कर देती हैं।

ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियां (Joint Stock Companies) :

पूंजीपति पूंजी की आवश्यकता पूरी करने के लिए और एक तरीका अख्तियार करता है, वह तरीका है – ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियां। इसके तहत वह शेयर (अंश पूंजी), ऋण-पत्र आदि बेचकर पूंजी इकट्ठा करता है। ऋणपत्रों और नियत आयवाले शेयरों पर शेयरधारियों को औसत दर पर सूद प्राप्त करने की अग्रिम गारंटी मिलती है, जबकि साधारण शेयरों के मालिकों को मुनाफे के आधार पर ब्याज प्राप्त होता है, जिसमें घटती-बढ़ती होती रहती है। ऐसे ब्याज को लाभांश (dividend) कहते हैं। जहां इन शेयरों व ऋणपत्रों की खरीद-बिक्री की जाती है उस जगह को स्टॉक एक्सचेंज (सट्टाबाजार) कहते हैं। शेयरों की खरीद-बिक्री में वे तमाम तरह के घिनौने हथकण्डे अपनाये जाते हैं जिनके चलते वे छोटे-मोटे शेयरधारी मारे जाते हैं, जो उद्योगों या बैंकों से प्रत्यक्ष रूप में जुड़े नहीं रहते हैं।

ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियां ऐसी कम्पनियां हैं जिनमें बहुत से शेयरधारी होते हैं, हरेक शेयरधारी को उसके शेयर के मुताबिक मतदान का औपचारिक अधिकार होता है। ऐसी ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियों के संस्थापक दरअसल इनके मालिक ही होते हैं। अधिकांश शेयरधारी जो दूरदराज के इलाकों में रहते हैं और जिनके पास कोई औद्योगिक या व्यावसायिक अनुभव या सम्पर्क नहीं होता, ऐसी कम्पनियों के कार्यकलाप में शायद ही कोई भूमिका निभा पाते हैं। शेयरधारी और ऋणपत्रधारी **औसत ब्याज** हासिल करते हैं, जबकि कम्पनियां **औसत मुनाफा** वसूलती हैं। औसत मुनाफे और औसत ब्याज के बीच के अंतर की राशि कहां चली जाती है? जहां तक कि इस राशि को व्यवसाय में पुनः निवेशित नहीं किया जाता और इसे सुरक्षित कोष में रूपांतरित कर लिया जाता है; यह राशि अग्रिम तौर पर संस्थापक के मुनाफे रूप में पूंजीकृत हो जाती है। अतिरिक्त शेयर, तरजीही शेयर (preference share = जिन पर मुनाफा होने से पहले ही लाभांश मिल जाता है) आदि कम्पनी के संस्थापक को अर्पित किये जाते हैं।

इस तरह, यद्यपि ये कम्पनियां औपचारिक रूप से ऐसी संस्थाओं के रूप में सामने आती हैं जिनके अंदर उत्पादन के साधनों का स्वामित्व विकेन्द्रित होता है, लेकिन वास्तव में ये कम्पनियां पूंजी के संकेन्द्रण की एक महत्वपूर्ण मंजिल का निर्माण करती हैं। बड़े पूंजीपति छोटे बचतकर्त्ताओं का धन हड़प लेते हैं और इस प्रक्रिया में पूंजी की बड़ी मात्रा का नियंत्रण करने लगते हैं।

4. पूंजीवादी संकट :

पूंजी का प्रवाह (flow) उसी ओर होता है, जहां औसत से अधिक मुनाफा प्राप्त हो। स्वभावतः, उस क्षेत्र में पूंजी का बड़े पैमाने पर संचय हो जाता है और नये उद्योगों की भरमार हो जाती है। पूंजीपति अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पीछे छोड़ देने के लिए अपनी चल पूंजी के एक हिस्से को अचल पूंजी में बदल देते हैं, यानी, पूंजी की उच्च सजीव संरचनावाले उद्योग कायम करते हैं। लेकिन इस मशीनीकरण के कारण मजदूरों का एक हिस्सा बेकार

हो जाता है, यानी, आबादी के एक हिस्से की क्रयशक्ति खत्म हो जाती है। यह प्रक्रिया एक ऐसी स्थिति पैदा कर देती है जब मांग की तुलना में मालों की आपूर्ति काफी बढ़ जाती है। पूंजीपतियों की परिचालित पूंजी बाजार में फंसी रह जाती है। ऐसे समय में, ऋण-संस्थाएं परिचालित ऋण देकर पूंजीपति को उत्पादन जारी रखने में सहायता प्रदान करती हैं। लेकिनइस से आपूर्ति और बढ़ती जाती है। बाजार बिना बिके मालों से पट जाता है। उन्हें कोई खरीदने वाला नहीं रह जाता। विनिमय मूल्य और उपयोग-मूल्य की, मुद्रा और माल की एकता टूट जाती है। उत्पादित वस्तुओं में उपयोग मूल्य होता है, लेकिन वे विनिमय मूल्य खो बैठते हैं। उन्हें खरीदने के लिए मुद्रा नहीं रह जाती। कितने ही कारखाने बन्द कर दिये जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे अति-उत्पादन की महामारी आ गयी हो। स्टॉक नष्ट कर दिये जाते हैं। लाखों करोड़ों लोग बेकार हो जाते हैं। उत्पादक शक्तियों की भयंकर पैमाने पर बर्बादी होती है।

मीयादी संकट-चक्र को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

1. आर्थिक पुनर्जीवन (Economic recovery) : पहले से संचित स्टॉक धीरे-धीरे बिकने लगता है अथवा उसे नष्ट कर दिया जाता है। मालों की मांग पुनः आपूर्ति से बढ़ने लगती है। तब कुछ बन्द कारखाने पुनः खुलने लगते हैं। पूंजी का निवेश पुनः बढ़ने लगता है। जिन उद्योगों में पूंजी की सजीव संरचना उच्च है, उन्हें औसत से अधिक मुनाफा मिलने लगता है। आर्थिक पुनर्जीवन शुरू हो जाता है।

II. उभार और समृद्धि (Boom and prosperity) : विनियोग तेजी से बढ़ता है, आधुनिकीकरण चालू हो जाता है, दाम बढ़ते जाते हैं।

III. अति-उत्पादन और गिरावट (Over production and slump) : पुनः आपूर्ति मांग से बढ़ जाती है। पूंजी की निम्न सजीव संरचनावाले उद्योग सबसे पहले मार खाते हैं। ऋण के जरिये उत्पादन जारी रहता है। माल का स्टॉक बढ़ता जाता है। बहुत से पूंजीपति उजड़ जाते हैं।

IV. संकट और मंदी (Crisis and depression) : यह प्रक्रिया बार-बा दुहरायी जाती रहती है। इस प्रकार का पहला पूंजीवादी संकट 1825 ई में आया। उसके बाद हर पांच, दस साल पर ऐसे संकट आते रहते हैं।

पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली में, यद्यपि श्रम अधिकाधिक सामाजिक औ संगठित रूप लेता जाता है, फिर भी उत्पादन सचेत रूप से योजनाबद्ध औ संगठित नहीं होता है। इसलिए सामाजिक उत्पादन के लिए वास्तव में सामाजिक रूप से जितने श्रम की जरूरत है और उत्पादन में जितना श्रम लगाया गया—उसके बीच संतुलन सचेत रूप से कायम किया जाना संभव नहीं है। संकटों के जरिये, जन-धन की भयानक बर्बादी के जरिये पूंजीपति यह संतुलन कायम करने को बाध्य हो जाते हैं।

इन संकटों ने पहली बार यह दिखा दिया कि मुनाफा-केन्द्रित पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक बन गयी है। उत्पादक शक्तियों का तूफानी झोंका हर कुछ वर्षों में उत्पादन के इन पूंजीवादी सम्बन्धों को तोड़ डालता है। और इस संकट से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं मजदूर, क्योंकि मंदी के दौर में कारखानों के बन्द हो जाने पर वे ही भूखों रहने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। दास समाज में भी दास-मालिक दासों के जीवन-निर्वाह की जिम्मेदारी लेता था और सामन्तवाद में सामन्ती भूस्वामी अपने भूदासों के दैनिक जीवन-निर्वाह की देखभाल करते थे, लेकिन पूंजीपति इन मजदूरों के जीवन-निर्वाह की कोई भी जिम्मेवारी लेने से इन्कार कर देता है—वह समाज का अगुवा बने रहने का नैतिक अधिकार भी खो देता है। इन संकटों का तब ही हल किया जा सकेगा जबकि पूंजी और श्रम का मौजूदा सम्बन्ध खत्म कर दिया जाय, उत्पादन के साधनों पर सामाजिक मिल्कियत कायम की जाय और सामाजिक उत्पादन को सचेत योजनाबद्ध रूप दिया जाय। नयी उत्पादक शक्तियां एक बार फिर पुराने उत्पादन-सम्बन्धों से टकराने लगती है, विभिन्न देशों में सर्वहारा के जन-संघर्ष इसी नये वस्तुगत यथार्थ की अभिव्यक्तियां हैं।

5. **कृषि में पूंजीवाद का विकास :**

पूंजीवाद का विकास पहले उद्योग-धन्धों में होता है। कृषि में पूंजीवाद का प्रवेश अपेक्षाकृत विलम्ब से होता है। कृषि के क्षेत्र में पूंजीवादी विकास की मुख्य-मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(i) कृषि का व्यापक वाणिज्यीकरण यानी उपभोग की बजाय मुख्यत: बाजार के लिए कृषि उत्पादन।

(ii) वही सम्पत्ति पूंजी है, जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है— पूंजी का यह सामान्य गुण कृषि के क्षेत्र में भी लागू होता है। कृषि के क्षेत्र में पूंजीवाद का मूल लक्षण यह है कि कृषि से उत्पन्न अतिरिक्त सम्पत्ति को फिर कृषि के आधुनिकीकरण में, कृषि क्षेत्र की उत्पादकता बढ़ाने में लगाया जाता है; यानी, यह सम्पत्ति कृषि के क्षेत्र में अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में लगायी जाती है।

कुछ यूरोपीय देशों (जर्मनी, रूस आदि) और जापान में शहर-केन्द्रित पूंजीवाद का शुरू में विकास हुआ। इन देशों में कृषि के क्षेत्र से आयी अतिरिक्त सम्पत्ति भी शहरों में औद्योगिक क्षेत्रों में लगा दी गयी। फलत: ग्रामीण क्षेत्र में सामन्ती सम्बन्धों के रहते हुए शहरी पूंजीवाद का विकास हुआ। एक प्रक्रिया के बाद धीरे-धीरे ही ग्रामीण इलाकों के ये सामन्ती सम्बन्ध टूटे।

(iii) कृषि में पूंजीवादी सम्बन्धों के प्रवेश के साथ खेती की यूनिटों के रूप में सुगठित फार्मों (Compact farms) का जन्म होता है; क्योंकि पूंजीपतियों की मुख्य दिलचस्पी जमीन का अधिक-से-अधिक और अच्छा-से-अच्छा उत्पादक इस्तेमाल कर उससे मुनाफा कमाना है।

(iv) कृषि में पूंजीवाद का प्रमुख लक्षण है कृषि पर निर्भर आबादी में तेजी से ह्रास, जो नीचे की तालिका से स्पष्ट है :

देश	वर्ष	कृषि पर निर्भर आबादी का प्रतिशत
फ्रांस	1876	67·6%
,,	1921	53·6%
जर्मनी	1875	61%
,,	1919	37·8%
इंगलैंड और वेल्स	1871	38·2%
,,	1921	20·7%
डेनमार्क	1880	71%
,,	1921	57%

पूंजीवादी लगान : कृषि में पूंजीवादी सम्बन्धों के प्रवेश के बावजूद भूमि पर पुस्तैनी अधिकार बना रहता है। इसके अलावा भूमि-क्षेत्र भी सीमित है और जमीन की भी श्रेणियां हैं। इन कारणों से कृषि में पूंजीवाद औद्योगिक पूंजीवाद से स्वभावतः कुछ भिन्नता रखता है।

कृषि मालों के उत्पादन का खर्च औसत श्रेणी की जमीन पर होने वाले खर्च के अनुसार नहीं, बाजार में कृषि मालों को बाजार तक ले जाने की औसत परिवहन-सुविधाओं के आधार पर नहीं, बल्कि सबसे खराब जमीन पर होने-वाले खर्च के आधार पर, बाजार में ले जाने की सबसे बुरी स्थितियों के आधार पर तय किया जाता है। क्योंकि अगर ऐसा न हो, तो सबसे खराब जमीन और परिवहन की दृष्टि से सबसे बुरी स्थितियों में पड़ी जमीन पर कोई उत्पादन करेगा ही नहीं क्योंकि उसमें हमेशा घाटा होगा। इसीलिए, कृषि मालों का मूल्य = सबसे खराब जमीन पर उत्पादन का खर्च (औसत श्रम-काल) + औसत मुनाफा।

मान लीजिए, तीन किस्म की जमीन हैं और औसत मुनाफा 20% है। क-किस्म की जमीन सबसे खराब है जिसमें एक मन गेहूं उपजता है और एक मन गेहूं उपजाने के लिए 50रु० की पूंजी लगानी पड़ती है। चूंकि औसत मुनाफा 20% है, इसलिए क-जमीनवाले को 10 रु० मुनाफा मिलेगा।

क-जमीन पर उपजाये गये गेहूं का मूल्य = 50 रु० (उत्पादन का खर्च)
+ 10 रु० (औसत मुनाफा)
= 60 रु० (यही बाजार में एक मन गेहूं की कीमत होगी)।

ख-किस्म की जमनी पर 50रु० ही लगाने पर 2 मन गेहूं उपजता है, यानी 120 रु० की फसल मिलती है। ख-जमीन को (120 – 50) = 70 रु० का मुनाफा मिलेगा। यानी क-जमीन की तुलना में 60 रु० अधिक।

ग-किस्म की जमीन पर50 रु० लगाने पर 3 मन गेहूं उपजता है, यानी कुल 180 रु० की फसल। कुल मुनाफा (180 – 50) = 130 रु० होगा, यानी क-जमीन की तुलना में 120 रु० अधिक।

अच्छी जमीन से प्राप्त मुनाफे ओर सबसे खराब जमीन से प्राप्त मुनाफे के अन्तर को ही सापेक्ष लगान (differential rent)**कहते हैं।**

इसीलिए क-जमीन का सापेक्ष लगान = 0,ख-जमीन का सापेक्ष लगान = (70 – 10) = 60 रु०, ग-जमीन का सापेक्ष लगान (130 – 10) = 120 रु० होगा।

लेकिन जमीन पर निजी भूस्वामियों का पुश्तैनी अधिकार है और पूंजीवादी किसान उससे पट्टे पर जमीन लेकर खती करते हैं। इसलिए खेती के क्षेत्र में मुक्त प्रतियोगिता नहीं हो पाती है। मुक्त प्रतियोगिता के अभाव में मुनाफे की दर में भी समरूपता नहीं आ पाती है। मुक्त प्रतियोगिता रहने से पूंजी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आती जाती रहती है और इसके परिणामस्वरूप मुनाफे की औसत दर कायम हो पाती है। लेकिन जमीन पर निजी भूस्वामियों की पुश्तैनी इजारेदारी एक दूसरी स्थिति पैदा करती है—भूस्वामी कभी भी अपनी जमीन किसी दूसरे व्यक्ति को पट्टे पर दे सकता है, जो कि उसे अधिक लगान देगा। जमीन पर इसी इजारेदारी के कारण भूस्वामी द्वारा लिया गया लगान **निरपेक्ष लगान** (Absolute rent) कहलाता है। पूंजीपति लोग इस निरपेक्ष लगान के खिलाफ लड़ते हैं क्योंकि इस लगान के जरिये भूस्वामी उनकी पूंजी का अच्छा-खासा हिस्सा हड़प जाते हैं। इंग-

लैण्ड में तो अग्रगामी पूंजीपतियों (radical bourgeoisie) ने जमीन के राष्ट्रीयकरण (nationalisation of land) की मांग की थी ताकि इस लगान को पूरी तरह और समग्र रूप से खत्म कर दिया जाय। लेकिन आम तौर से पूंजीपति ऐसी मांगों को कार्यान्वित नहीं करते हैं—क्योंकि यदि एक बार 'निजी सम्पत्ति के पवित्र अधिकार' को—चाहे भूमि के क्षेत्र में ही क्यों न हो—रद्द कर दिया जाय, तो कल खुद इन पूंजीपतियों की भी तमाम निजी पूंजी के राष्ट्रीयकरण की मांग उठ सकती है।

6. इजारेदार पूंजी अथवा साम्राज्यवाद (Monopoly Capital or imperialism) :

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं पूंजीवादी उत्पादन के विकास की प्रक्रिया में मुनाफे की औसत दर गिरने की ओर जाती है। मुनाफे की औसत दर को गिरने से बचाने के लिए पूंजीपति मूलतः दो चीजों का सहारा लेता है : उत्पादन और बाजार पर इजारेदारी कायम करना और औपनिवेशिक अति-मुनाफा हासिल करना। इजारेदारी सामयिक रूप से उनके बीच प्रतिद्वन्द्विता खत्म कर देती है, पूंजीपति आपस में बाजार का बंटवारा करके और मालों की कीमतें निश्चित करके कीमतों में ह्रास को रोक देते हैं; वे मालों की कीमतें कृत्रिम रूप से बढ़ा देते हैं (बशर्ते कि 'प्रभावी मांग' या वास्तविक क्रय-शक्ति बनी रहे); वे जान-बूझकर उत्पादन सीमित कर देते हैं, तकनीकी परिवर्त्तनों को बलपूर्वक रोक देते हैं या विलंबित कर देते हैं, और वे मालों के गुण में ह्रास पैदा करके उन्हें पुरानी कीमतों पर ही बेंचना जारी रखते हैं। यह सब मुक्त प्रतियोगिता के दिनों में सम्भव नहीं था। **इजादारेदारी की ऐसी चालबाजियों के जरिये हासिल किये गये मुनाफे को एकाधिकारी अति-मुनाफा कहते हैं।**

इजारेदारी की यह प्रक्रिया मोटे तौर पर निम्नलिखित चरणों से गुजरीः
(i) भद्रजन-समझौता (Gentlemen's Agreement)—आपस में कुछ कम्पनियों द्वारा निश्चत क्षेत्रों में और एक निश्चित कीमत पर माल बेचने का समझौता। यह समझौता स्वैच्छिक (Voluntary) होता था।

(ii) कीमत-नियंत्रण संघ (Price regulating Association)—इस प्रकार के संघ में शामिल कम्पनियों ने कुछ नियम-कानून भी बनाने शुरू किये जो संघ के सदस्यों पर लागू होते थे।

(iii) पुल्स (pools): इस प्रकार के संगठन में शामिल कम्पनियां बाजार का एक निश्चित विभाजन कर लेती थीं।

(iv) कार्टेल, क्रय-विक्रय सिण्डिकेट, विक्रय कार्यालय आदि: ये अस्थायी गुट-बंदी और चिरस्थायी संश्र ग के मध्यवर्त्ती रूप हैं। इनमें शामिल कम्पनियां अपनी स्वाधीनता बरकरार रखते हुए कमोबेश दीर्घकालीन आपसी समझौते करती हैं, बेचने और खरीदने के लिए मुश्तरका संगठन कायम करती हैं और इन कम्पनियों को समझौते का उल्लंघन करने पर भारी जुर्माने भी देने पड़ते हैं।

(v) **ट्रस्ट** : पहले प्रतिद्वन्द्विता में संलग्न कम्पनियां अब ट्रस्ट नामक एक साझा कारोबार की संस्था बना लेती हैं और अलग-अलग कम्पनियां इस संस्था में शेयर होल्डरों के रूप में बदल जाती हैं। उन्हें एक प्रमाणपत्र दिया जाता है जिससे पता चलता है कि साझा कारोबार में उनका हिस्सा किस अनुपात में है।

(vi) **होल्डिंग कम्पनी** : इसका मतलब है एक ऐसी होल्डिंग कम्पनी जिसके जरिये बहुतेरे उद्योगों या व्यावसायों पर वित्तीय नियंत्रण कायम करना संभव हो जाता है, यद्यपि ये उद्योग या व्यवसाय अपनी औपचारिक स्वतंत्रता बर-करार रखते हैं। अमेरिका, बेल्जियम, जर्मनी और फ्रांस में बड़े-बड़े इजारेदारों का निर्माण मुख्यतः इसी प्रक्रिया के जरिये हुआ।

(vii) विलयन (Merger) : यानी, विभिन्न कम्पनियों का अपनी कानूनी अथवा वित्तीय स्वाधीनता त्याग कर एक साथ मिल जाना। यह पूंजीवादी संकेन्द्रण का सर्वाधिक "ठोस" व चिरस्थायी रूप है।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में हम एक दूसरी औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न होते देखते हैं। कोयला और वाष्पशक्ति के साथ-साथ पेट्रोल और बिजली का महत्व बढ़ता गया। इस्पात तैयार करने की नयी विधि का

आविष्कार हुआ। रासायनिक सिन्थेटिक्स का विकास हुआ। कपड़ा और कोयला उद्योगों की जगह पर अब इस्पात ने सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर लिया। ब्रिटेन में, औद्योगिक केन्द्र मैनचेस्टर (कपड़ा) से बरमिंघम (इस्पात) की तरफ स्थानान्तरित हो गया। ऊर्जा क्रांति ने अमेरिका का महत्व काफी बढ़ा दिया, क्योंकि अमेरिका में पेट्रोलियम की बहुतायत थी। इसके फलस्वरूप अभूतपूर्व पैमाने पर औद्योगिक विकास देखा गया। पूंजी के बड़े पैमाने पर केन्द्रीकरण, उपनिवेशों पर कब्जा जमाने की जबर्दस्त होड़ आदि ने पूंजीवाद को उसकी चरम अवस्था में पहुंचा दिया। **लेनिन** ने इस अवस्था की मुख्य विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया है :

I. मुक्त प्रतियोगिता के बीच से कुछ मुट्ठी भर इजारेदारियों का जन्म। मुक्त प्रतियोगिता के जरिये, बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली को निगलने की प्रक्रिया के जरिये, उन्नसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रायः सभी पूंजीवादी देशों में उद्योग की विभिन्न शाखाओं में बड़ी-बड़ी इजारेदारियों का जन्म हुआ जिन्होंने उत्पादन की अपनी-अपनी शाखाओं पर निर्णायक नियंत्रण कायम किया।

II. बैंक-पूंजी और औद्योगिक पूंजी का गठजोड़ और वित्तीय अल्पतंत्र का जन्म, जो समाज के आर्थिक मर्मस्थलों पर कब्जा कर लेते हैं। द्रुत औद्योगिक विकास के कारण ऋण-संस्थाओं के रूप में बैंकों की भूमिका काफी बढ़ गयी। बड़े-बड़े बैंकपति अपने ऋणों को शेयर के रूप में बदलकर बड़े-बड़े उद्योगपति भी बन बैठे। इस प्रकार कुछ ऐसे मुट्ठी भर वित्तीय इजारेदारों का जन्म हुआ जो बैंक और उद्योग दोनों पर इजारेदारी रखते हैं। लेकिन साथ ही साथ इससे पूंजीपति वर्ग का एक ऐसा तबका भी सामने आया जिसका उत्पादन-प्रक्रिया से कोई सीधा सरोकार नहीं रहता है, वह बस सट्टेबाजी में लगा रहता है (ज्यादा से ज्यादा शेयर खरीदनेवाले, राजकीय बॉण्डों, विदेशी सिक्यूरिटी आदि के मालिक ऐसे ही लोग होते हैं)। उत्पादन और वितरण के वास्तविक तकनीकी प्रबन्धकों तथा वित्तीय संसाधनों के मुख्य आपूर्त्तिकर्त्ता व वित्तीय प्रबन्धकों के बीच नया विभाजन सामने आया। इजारेदार पूंजीपति-पूंजी

का मालिक—उत्पादन के प्रबन्धन के काम से अधिकाधिक जुदा होता जाता है। अब अतिरिक्त मूल्य पर कब्जा जमाने के लिए उसके पास नाममात्र का नकाब भी नहीं रह जाता है। मुक्त प्रतियोगिता के दौर में औद्योगिक पूंजीपति बहुत हद तक उद्योगों के प्रबन्धन (management) का काम खुद देखता था, लेकिन इजारेदार पूंजीपति विशुद्ध बुर्जुआ का प्रतिनिधित्व करता है, जो महज इसलिए अतिरिक्त मूल्य का 'हकदार' है कि वह पूंजी व उत्पादन के साधनों का मालिक है।

III. **मालों के निर्यात की जगह पूंजी का निर्यात** महत्व धारण करता है : औद्योगिक देशों में, पूंजी की आम उच्च सजीव संरचना के चलते, जब मुनाफे की औसत दर में गिरावट आने लगती है, तो यह कतई स्वाभाविक है कि उन देशों के पूंजीपति वहीं पर पूंजी निवेश करना नहीं चाहेंगे। ऐसी स्थिति में, वे औपनिवेशिक या अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में पूंजी का निर्यात करने लगते हैं, क्योंकि इन देशों में पूंजी की औसत सजीव संरचना काफी नीचे और अतिरिक्त मूल्य की दर काफी ऊंची होती है। विभिन्न साधनों (जैसे कि ऋण, उद्योग में विनियोग, तकनीकी सहयोग आदि) के जरिये पूंजी का निर्यात करके वे ऋण पर ब्याज, विनियोग पर अति-मुनाफा, तकनीकी सहयोग पर इजारेदारी शुल्क हासिल करते हैं, और साथ ही, ऋण लेनेवाले देशों को बाध्य करते हैं कि वे ऋण देनेवाले देशों से—जो कि अपनी इजारेदार स्थिति के कारण मनमाना दाम वसूलते हैं—माल खरीदें। आदि-आदि।

IV. **अन्तरराष्ट्रीय इजारेदार कम्पनियों के बीच विश्व-बाजार का बटवारा।**

V. कुछ बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी ताकतें समूची दुनिया का भौगोलिक बंटवारा आपस में पूरा कर लेती हैं। ऐसा भौगोलिक बंटवारा पिछली सदी के अंत तक लगभग पूरा कर लिया गया था।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इन सारी विशेषताओं ने ठोस रूप ग्रहण कर लिया। इसलिए बीसवीं शताब्दी से दुनियां ने साम्राज्यवाद के युग में प्रवेश किया। लेनिन के अनुसार "साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था है। यह मरणासन्न पूंजीवाद, परजीवी पूंजीवाद है।"

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, असमान विकास पूंजीवादी विकास का नियम है। अपनी विकास-प्रक्रिया में विभिन्न अंतरराष्ट्रीय इजारेदार कम्पनियों की तुलनात्मक स्थिति बदल जाती है और विश्व-बाजार के पुनर्विभाजन की कोशिशें शुरू हो जाती हैं। शुरू में सौदेबाजी व समझौतों के जरिये इस काम को पूरा करने का प्रयास किया जाता है, लेकिन अंततः इसका निपटारा होता है विश्वयुद्धों के जरिये। हर दो या तीन दशाब्दियों के बाद दुनिया एक विश्वयुद्ध में झोंक दी जाती है—उत्पादक शक्तियों की भयानक बर्बादी अभूतपूर्व रूप धारण कर लेती है।

साम्राज्यवाद दुनिया को एक इकाई में घनिष्ट रूप से बांध देता है, लेकिन वह अभूतपूर्व ढंग से समाजीकृत उत्पादन और अत्यंन्त इने-गिने हाथों में उत्पादन के साधनों के संकेन्द्रण के बीच की खाई को अत्यंन्त गहरा कर देता है। वह पूंजीवाद के संकट को बहुत बड़ी हद तक तेज कर देता है—इजारेदार पूंजी उत्पादक शक्तियों के विकास में अधिकाधिक बाधक बनती जाती है। इसलिए, लेनिन ने कहा था—"साम्राज्यवाद सर्वहारा की सामाजिक क्रांति की पूर्व बेला है।" लेनिन ने साम्राज्यवाद के युग के तीन बुनियादी अन्तरविरोधों को निम्नलिखित रूप में सूत्रबद्ध किया :

(i) साम्राज्यवादी देशों में श्रम और पूंजी के बीच का अन्तरविरोध

(ii) साम्राज्यवादी देशों और उत्पीड़ित राष्ट्रों व जनगणों के बीच का अंतरविरोध

(iii) साम्राज्यवादी देशों के बीच का अंतरविरोध

7. **औपनिवेशिक प्रणाली** (Colonial system) : औपनिवेशिक प्रणाली एक ऐसी प्रणाली है जिसके जरिये किसी उपनिवेश राष्ट्र की अतिरिक्त सम्पति को उपनिवेश बनानेवाले देशों में चालान कर दिया जाता है। पूंजीवाद के युग में औपनिवेशिक प्रणाली पूंजी के आदिम संचय में, औद्योगिक पूंजीवाद के विकास में और फिर मुनाफे की औसत दर में गिरावट की प्रवृत्ति की रोकथाम करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा

करती है। उपनिवेशवाद आधुनिक युग में निम्नलिखित चरणों से गुजरा है :

(i) कालांतर में उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश बन जाने वाले किसी देश में **व्यापारी पूंजी** घुसपैठ कर जाती है और पूंजीवादी देशों में आदिम संचय की खातिर साधन-स्रोत जुटा लेती है। व्यापारी पूंजी की घुसपैठ माल-उत्पादन को प्रोत्साहित करती है और सस्ते तैयार मालों का आयात वहां की स्वयंसम्पूर्ण आत्मनिर्भर प्राकृतिक अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर देती है।

(ii) विश्वपूंजीवाद के केन्द्र में पूंजीवादी विकास को सुगम बनाने के लिए **औपनिवेशिक देशों के खानों-बगानों पर कब्जा** कर लिया जाता है, ताकि **धातु**, खनिज, और स्थानीय **कृषि उत्पादन** कौड़ी के मोल प्राप्त हो सकें। प्राकृतिक स्रोतों के शोषण से लगान व अति-मुनाफा कमाना इस प्रणाली का आदिम लक्षण है।

(iii) कोई भी उपनिवेश **सस्ते श्रम** का स्रोत है। ऐसे देशों के सस्ते मजदूर पूर्ण दासों या आर्द्ध-दासों की तरह उन खानों, बगानों, रेलवे लाइनों और कारखानों में खटते हैं, जिन पर साम्राज्यवादी पूंजी का कब्जा होता है। ऐसे मजदूरों के जीवन-निर्वाह के निम्न स्तर के चलते पूंजी-निवेश पर मुनाफे की दर ऊंची रहती है।

(IV) विकसित पूंजीवादी देश उपनिवेशों से **कम कीमत पर खाद्यान्न व औद्यगिक कच्चे माल** हासिल करते हैं और इस तरह **मुनाफे** में गिरावट की प्रवृत्ति की रोकथाम कर पाते हैं।

(V) कोई भी उपनिवेश साम्राज्यवादी देशों के **तैयार मालों की खपत के लिए खुद ही एक मंडी** बन जाता है और इस तरह पूंजी पैदा करने—यानी, अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में मदद करता है।

(Vi) कुछ साम्रज्यवादी देशों में जब पूंजीवाद जरूरत से ज्यादा परिपक्व हो जाता है, तो वहां से पूंजीपति उपनिवेशों में पूंजी का निर्यात करने लगते हैं ताकि उनके अपने घरेलू बाजार में मुनाफे की गिरावट के संभावित पंकट से पार पाया जा सके।

(Vii) **बहुराष्ट्रीय कम्पनियां** उपनिवेशों और अर्द्ध उपनिवेशों में अपनी शाखाएं या सहयोगी कम्पनियां स्थापित कर अथवा तकनीकी व ऐसे ही अन्य प्रकार के सहयोग या सहायता के जरिये अति-मुनाफा कमाती हैं। यह साम्राज्यवाद का नवीनतम औजार है।

स्वयंसम्पूर्ण प्राकृतिक अर्थव्यवस्था का ध्वंस करके और दस्तकार-कारीगरों व किसानों के एक हिस्से को उजड़े श्रमिकों में बदल कर, उपनिवेशवाद उपनिवेशों में पूंजीवाद के उदय व विकास के लिए वस्तुगत परिस्थिति तैयार कर देता है। लेकिन साथ ही, उपनिवेशवादी सामंती भूस्वामियों के साथ गंठजोड़ कर लेते हैं और उपनिवेशों की सम्पत्ति को साम्राज्यवादी देशों में बहा ले जाते हैं तथा इस तरह राष्ट्रीय पूंजीवाद को बलपूर्वक रोक देते हैं या कमजोर बना देते हैं। अर्द्धसामंती भूमि-सम्बन्धों की मौजूदगी ही सस्ती दर पर श्रम व कच्चा माल हासिल करने, और इसीलिए (अतिरिक्त मूल्य की दर बहुत ऊंची होने के कारण) अति-मुनाफा कमाने का आधार है। सो, **अर्द्ध-सामंती भूमि-सम्बन्ध उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के लिए मुख्य सामाजिक आधार का काम करते हैं।**

लेकिन साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों के अन्दर व्यापार, सूदखोरी आदि के जरिये संचित देशी सम्पत्ति को शक्तिशाली राष्ट्रीय पूंजी का रूप ग्रहण करने से कैसे रोक पाते हैं ? वे इस सम्पत्ति के साथ उपनिवेशों में पूंजी का निर्यात करने की अपनी वस्तुगत आवश्यकता का तालमेल कैसे बिठाते हैं ? उपनिवेशों का थोड़ा-सा उत्पादक इस्तेमाल, उनका थोड़ा-सा औद्योगीकरण साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल होता है, लेकिन कुछ खास परिस्थितियों में ही। उपनिवेशों की संचित सम्पत्ति के साथ-साथ उपनिवेशों में विनियोग की वस्तुगत परिस्थितियां तथा पूंजी का निर्यात करने की साम्राज्यवादी आवश्यकता —इन दोनों पहलुओं में तालमेल बिठाया जाता है उपनिवेश व अर्द्ध-उपनिवेशों में एक नयी आर्थिक श्रेणी (Category) का—यानी, दलाल पूंजी का —विकास करके।

दलाल पूंजी उपनिवेशों की देशी सम्पत्ति का वह भाग है जो सिर्फ विदेशी पूंजी के साथ गठजोड़ करके ही अतिरिक्त मूल्य पैदा कर सकता है, और इस तरह, दलाल पूंजी अतिरिक्त मूल्य का एक बड़ा हिस्सा विदेशी पूंजी-पतियों के हवाले कर देती है। यह दलाल पूंजी मशीनरी, तकनीकी जानकारी, बाजार आदि के लिए विदेशी पूंजी पर निर्भर होती है। उपनिवेशों, अर्द्ध उपनिवेशों में मुनाफे की औसत दर और साम्राज्यवादी देशों में मुनाफे की औसत दर के बीच अंतर होता है। इसी अंतर से वह अति-मुनाफा पैदा होता है जिसे साम्राज्यवादी देश हड़प जाते हैं। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि ये अति-मुनाफे बहुत अधिक होते हैं क्योंकि अपनी एकाधिकारी स्थिति के कारण, साम्राज्यवादी कम्पनियां इन पूंजीपतियों से मनमाने दाम वसूलती हैं।

दलाल पूंजी में दो विरोधी पहलू अंतर्निहित हैं—उपनिवेशों की संचित संपत्ति के साथ-साथ वहां विनियोग करने की वस्तुगत परिस्थितियां तथा साम्राज्यवादियों की पूंजी-निर्यात करने की अपनी आवश्यकता। इन दोनों पहलुओं में से बाद वाला पहलू पहले पर हावी रहता है। इसके चलते उपनिवेशों की देशी संपत्ति अनेक नये-नये क्षेत्रों मे भी नहीं लग पाती है (क्योंकि ऐसा करना साम्राज्यवादियों के हितों के अनुकूल नहीं होता)। इसलिए दलाल पूंजी उपनिवेशों की नयी उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक हो जाती है। लेकिन उक्त दो पहलुओं के बीच तादात्म्य के अलावा संघर्ष भी माजूद रहता है। और दलाल पूंजी का संकट दरअसल इसी संघर्ष में निहित होता है। पहले वाला पहलू बाद वाले पहलू के अधीन रहने से इन्कार कर देता है। एकता टूट कर बिखर जाती है। दलाल पूंजी का खात्मा हो जाता है। विरोधी पहलू एक दूसरे में समाहित हो जाते हैं। स्वतन्त्र जन-लोकतंत्रों और समाजवादी देशों में पहले वाला पहलू प्रधान हो जाता है और दूसरे वाला गौण। इस तरह जन-लोकतंत्र या सामाजवादी देश, साम्राज्यवादियों की पूंजी-निर्यात करने की आवश्यकता का इस्तेमाल, अपने यहां नयी उत्पादक शक्तियों के विकास के हित में कर लेते हैं।

चूंकि दलाल पूंजी में उक्त दो विरोधी पहलुओं का तादात्म्य कुछ खास परिस्थितियों में ही होता है, तो वे परिस्थितियां कौन-सी हैं ? यह तादात्म्य अर्द्ध सामंती उत्पादन-प्रणाली की मौजूदगी और उत्पादन के आधुनिक औजारों पर कुछ साम्राज्यवादी कम्पनियों की इजारेदारी की परिस्थितियों में स्थापित होता है। सामंतवादविरोधी, साम्राज्यवादविरोधी जन-आंदोलन का विकास इन परिस्थितियों का खात्मा कर देता है और इस तरह दलाल पूंजी का तेजी से पतन होने लगता है।

चूंकि दलाल पूंजी देशी अतिरिक्त सम्पत्ति के एक हिस्सा का निर्माण करती है, इसलिए देश के अंदर भी इसकी जड़े होती हैं। लेकिन अपने ही बूते पर अतिरिक्त मूल्य पैदा करने में असमर्थ होने के कारण यह एक अनुर्वर राष्ट्रविरोधी वर्ग बन जाता है। ठीक इसी कारण से दलाल पूंजीपति मध्यकालीन प्राक्-पूंजीवादी वाणिज्यिक कार्यवाहियों में मशगूल हो जाते हैं। सामंती भूस्वामियों के साथ मिलकर वे उपनिवेशों व अर्द्ध-उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के सामाजिक आधार का निर्माण करते हैं।

दलाल पूंजी के विकास की कुछ अवस्थाएं इस प्रकार रही हैं :

(i) विदेशी व्यापारी पूंजी की घुसपैठ और फलतः व्यापार पर इन विदेशी व्यापारियों की इजारेदारी की स्थापना के चलते उपनिवेशों में बिचौलियों, दलालों आदि का एक नया वर्ग पैदा हुआ। ये बिचौलिये व दलाल इन विदेशी व्यावसायिक फर्मों को अनेक प्रकार के मालों की आपूर्त्ति करते थे। इन लोगों ने कुछ खास मालों के व्यापार पर, क्षेत्रीय या आंचलिक आधार पर कमोबेश इजारेदारी हैसियत प्राप्त कर ली थी; क्योंकि विदेशी फर्में खुद ही ऐसी व्यवस्था को प्राथमिकता देती थीं—खास तौर से वहां जहां राजनीतिक सत्ता उनके हाथों में थी। इसलिए ये बिचौलिये व एजेन्ट छोटे-मझोले व्यावसायियों की कीमत पर फलते-फूलते रहे।

(ii) इन बिचौलिओं के हाथों में संचित सम्पत्ति साम्राज्यवादियों की पूंजी-निर्यात करने की आवश्यकता के अनुकूल थी। अब इस संचित सम्पत्ति का इस्तेमाल, **प्रबंध-संस्थाओं** (Manageing House) के जरिये, साम्राज्यवादियों की

पूंजी निर्यात करने की आवश्यकता के हित में किया जाने लगा। भारत में, इन बिचौलिओं द्वारा किये गये देशी पूंजी के विनियोग को दरअसल यूरोपीय प्रबंध-संस्थाएं नियंत्रित करने लगीं।

(iii) पूंजी निर्यात को भी इस तरह व्यवस्थित किया गया कि उससे देशी बड़े पूंजीपतियों का एकाधिकारी चरित्र ही मजबूत हुआ। पेटेंट या तकनीक चुने हुए घरानों को बेची गयी और घरेलू बाजार में इन पेटेंटों व तकनीक पर उन घरानों की इजारेदारी थी। इससे इन तकनीकों का प्रचुर मात्रा में प्रसार रोक दिया गया और इस तरह छोटे उद्योगपतियों को सबसे ज्यादा धक्का लगा। इसलिए दलाल पूंजी का एकाधिकारी चरित्र किसी मुक्त प्रतियोगिता का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी प्रणाली है जो साम्राज्यवादियों को अति-मुनाफे की गारंटी करती है।

(iv) युद्धकाल में, खास तौर से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन दलाल इजारेदार घरानों ने ठोस रूप ले लिया और वे तीसरी दुनिया के अनेक देशों में शासक बन गये। पिछले युद्ध के बाद इन दलाल इजारेदार पूंजीपतियों ने राज-सत्ता का इस बात के लिए इस्तेमाल किया कि विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ सक्रिय सहयोग करते हुए अपनी स्थिति और भी मजबूत कर लें।

इस तरह, दलाल-इजारेदार-नौकरशाह पूंजी का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ, जो सामंती भूस्वामियों से मिलकर तीसरी दुनिया के अनेक देशों में राजनीतिक सत्ता को असीम उत्पादक क्षमताओं का दमन करने में लगा रहा है। पिछले तीन दशकों से जारी सामंतवाद-विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोध जनवादी आंदोलनों की जोरदार लहरें इसी अन्तरविरोध की अभिव्यक्तियां हैं।

लेकिन जहां औद्योगीकरण का थोड़ा-बहुत विकास होने लगता है, और पूंजी-निवेश की कुछ खास परिस्थितियां होती हैं, वहां कोई भी आदमी छोटे-मझोले उद्योगों के विकास को नहीं रोक सकता। ये छोटे-मझोले उद्योग दलाल इजारेदार घरानों से अलग होते हैं। लेकिन पूंजीवादी विकास के नियम के चलते, पूंजी की निम्न सजीव संरचना वाले इन छोटे उद्योगों से पूंजी का

प्रवाह पूंजी की उच्च सजीव संरचना वाले इजारेदार घराने की ओर जाता है। ये छोटे पूंजीपति राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का निर्माण करते हैं और इजारेदार-विरोधी, तथा साम्राज्यवाद-विरोधी होते हैं।

चूंकि औपनिवेशिक अति-मुनाफा, साम्राज्यवादी देशों में मुनाफे की औसत दर में गिरावट की प्रवृत्ति को रोकने का मुख्य आधार हो गया, इसलिए 20 वीं शताब्दी में विश्व-क्रांति का केन्द्र भी पश्चिमी देशों से खिसककर पूर्वी देशों में चला आया। वित्तीय पूंजी का शासन तब तक उखाड़कर नहीं फेंका जा सकता जब तक कि वह औपनिवेशिक अति-मुनाफे से वंचित नहीं कर दिया जाता।

इसके अलावा, चूंकि अर्द्ध-सामंती उत्पादन-संबंधों की मौजूदगी ही औपनिवेशिक अति-मुनाफा खींच निकालने का प्रमुख आधार बनती है। इसलिए इस उत्पादन-संबंध और व्यापक जन-समुदाय के बीच का अंतरविरोध तीसरी दुनिया के देशों में (उन देशों को छोड़कर जहां प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन है) प्रधान अन्तरविरोध हो जाता है।

अध्याय : 3

भारतीय अर्थव्यवस्था

1. **प्राक्-ब्रिटिश भारतीय अर्थव्यवस्था :** ब्रिटिश शासकों के आगमन से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था सामंती अर्थव्यवस्था थी, जिसकी बुनियादी इकाई था — कृषि और दस्तकारी के प्राचीन काल से चले आ रहे समन्वय पर आधारित स्वयंसम्पूर्ण स्वावलंबी ग्राम-समुदाय। इस अर्थव्यवस्था के कुछ मुख्य-मुख्य पहलू निम्नलिखित हैं :

I. भूमि पर सामुदायिक मिल्कियत। यद्यपि कृष्णा नदी के दक्षिणी इलाके में और पश्चिमोत्तर प्रांतों में भूमि पर निजी स्वामित्व के भी प्रमाण मिलते हैं, तथा हालांकि मुगल काल के उत्तरार्द्ध में केन्द्रीकृत राजसत्ता के पतन के कारण परम्परागत भूमि-व्यवस्था में भी कहीं-कहीं कुछ परिवर्त्तन दिखायी पड़े, लेकिन फिर भी स्वयंसम्पूर्ण स्वावलम्बी और सामुदायिक मिल्कियत की स्वा- भाविक अर्थव्यवस्था वाले ग्राम-समुदाय ही भारतीय अर्थव्यवस्था आधार थे।

II. ग्राम-समुदाय के अन्दर कृषि और दस्तकारी का परम्परागत समन्वय। भारतीय ग्राम-समुदाय में श्रम-विभाजन जाति के रूप में मौजूद था। ग्राम-समुदाय की परम्परा के अनुरूप ही कृषि व दस्तकारी के सामानों का समुदाय के अन्दर विनिमय होता था। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रकार के के उत्पादन को दरअसल माल-उत्पादन नहीं कहा जा सकता।

III. चूंकि आम लोगों की जरूरत की सारी चीजें गांवों में ही उपलब्ध हो जाया करती थीं। इसलिए ग्राम-समुदाय के दायरे से बाहर उद्योगों के विकास का कोई आधार मौजूद नहीं था। लेकिन इसके बावजूद ऐसे कुछ उद्योग थे जो मुख्यतः राजाओं के भोग-विलास की सामग्री बनाते थे अथवा सीमित पैमाने पर विदेश व्यापार की वस्तुएं तैयार करते थे। इसके अलावा

राजाओं के अस्त्र-उद्योग और साथ ही, खान-खादान भी हुआ करते थे। विदेश-व्यापार के विकास के कारण जहाजरानी उद्योग भी विकसित हुआ और कुछ हद तक वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन भी बढ़ा।

IV. मुद्रा-प्रचलन क्रा अभाव। यद्यपि अकबर के शासन काल में भू-राजस्व नकद में वसूलने और कर्मचारियों को नकद में वेतन देने का नियम चलाया गया, जिससे कि व्यापार और मुद्रा-प्रचलन के विकास पर अनुकूल प्रभाव पड़ा; लेकिन बाद के शासकों ने इस नीति को बदल दिया और पुनः राजस्व की वसूली अनाज आदि सामानों के रूप में होने लगी। कुल मिलाकर देखा जाय तो अंग्रेजों के आने से पहले भारत के व्यापक इलाकों में मुद्रा-प्रचलन अत्यंत कम था।

17वीं शताब्दी और 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औपनिवेशिक शासन की स्थापना से पहले, इंगलैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों के साथ बढ़ते हुए व्यापार के कारण, वाणिज्य का विकास कुछ तेजी से हुआ। इस अवधि में मुख्य उद्योग थे—कपड़ा, धातु, कागज, नील, चीनी, शोरा, चमड़ा, जहाजरानी इत्यादि। 95 प्रकार के सूती, रेशमी और मिश्रित कपड़ों का निर्यात भारत से किया जाता था। कपड़ा-उद्योग के मुख्य केन्द्र थे—आगरा, दिल्ली, काश्मीर कोयम्बतूर, बेलारी, मुल्तान, लाहौर, थट्टन, अहमदाबाद, भरौंच, सूरत, काम्बे, बुरहानपुर, पटना, ढाका, सरहिन्द, समाना, नसरपुर, सेहना आदि। आगरा, दिल्ली, लाहौर, सूरत, मुंगेर, पटना, ग्वालियर, उज्जैन, स्यालकोट आदि धातु-उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे। अहमदाबाद, स्यालकोट, गया और शहजादपुर कागज-उद्योग के केन्द्र थे। लाहौर, थट्टन, सरहिन्द आदि में चमड़ा उद्योग फल-फूल रहा था। जहाजरानी उद्योग गुजरात में केन्द्रित था। इस उद्योग के विकास का पता इसी बात से लगाया जा सकता है कि 300—400 जहाजों का एक बेड़ा काम्बे और गोआ के बीच चलाया जाता था। व्यापार के इस तीव्र विकास के चलते कुछ बड़े व्यापारियों ने भारी सम्पत्ति संचित कर ली थी। सूरत के वीर जी बोरा और मुर्शिदाबाद के जगत सेठ इसके सबूत हैं।

इन सबके बावजूद, आखिर भारत में उन दिनों पूंजीवाद का विकास क्यों नहीं हुआ ? पूंजीवाद पहले यूरोप में ही क्यों पैदा हुआ ? बुनियादी रूप से, इसके दो कारण थे :

(i) **सिंचाई-आधारित विकसित कृषि :** भारत में कृषि-भूमि काफी उपजाऊ और बड़े पैमाने पर मौजूद थी। सिंचाई के लिए पानी भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। इसलिए लगातार बढ़ती हुई आबादी को कृषि में ही आसानी से खपा लिया जाता था। लिहाजा, गैर-कृषि क्षेत्रों के विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। विकसित कृषि और घनी आबादी के कारण मशीन के उपयोग की जरूरत भी सामने नहीं आती थी, क्योंकि सस्ता श्रम हमेशा उपलब्ध था। इसीलिए लेनिन ने कहा है, "हस्त-उत्पादन के आधार पर श्रम-विभाजन के अलावा तकनीक में कोई और प्रगति संभव नहीं थी।" इसलिए उन दिनों भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे सकारात्मक पहलू—यानी, सिंचाई पर आधारित विकसित कृषि—ही भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की राह में सबसे नकारात्मक पहलू भी बन गया।

यूरोप में कृषि पिछड़ी हुई थी, इसलिए शुरू से ही गैर-कृषि क्षेत्रों की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति मौजूद थी। यूरोपवासियों ने जल-ऊर्जा (Hydraulic Power) को गैर-कृषि क्षेत्रों में लगाने की कोशिश की और इस तरह मशीनों का जन्म हुआ। लेकिन कृषिमूलक सभ्यताओं में इस तरह के काम पर बहुत पाबंदी थी, क्योंकि इसके साथ कृषि-भूमि की सिंचाई की जरूरतों का द्वन्द्व खड़ा हो जाता था।

(ii) **प्राच्य स्वेच्छाचारिता (Oriental Despotism) :** प्राच्य स्वेच्छाचारी शासन भी भारत में पूंजीवाद के विकास के लिए बहुत बड़ा बाधक था। छोटे-छोटे स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-समुदायों के लिए सिंचाई की बड़ी-बड़ी नहरों का निर्माण एक केन्द्रीकृत राजसत्ता द्वारा ही संभव था। चूंकि लगभग समूची आबादी जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर ही निर्भर थी, सो यह केन्द्रीकृत शासन एक बड़ी आर्थिक शक्ति भी बन जाता था। उस बड़ी स्वेच्छाचारी शक्ति से स्वभावतः तत्कालीन व्यवसायी और सूदखोर भी डरते थे तथा

शासकों से अपनी सम्पत्ति छिपा कर रखते थे। चूंकि विराट आबादी का भरणपोषण कमोबेश स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-समुदाओं में ही हो जाया करता था. इसलिए औद्योगिक पूंजी के विकास का कोई मजबूत आंतरिक स्रोत मौजूद नहीं था। इन सबके बावजूद, विदेश-व्यापार के प्रभाव से औद्योगिक पूंजी के विकास की कुछ शर्तें अवश्य तैयार हुई; लेकिन आंतरिक उत्प्रेरक के अभाव में कमजोर व्यापारी प्राच्य स्वेछाचारी के डर से उस दिशा में आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं कर सके। ये स्वेच्छाचारी शासक इस-उस बहाने से व्यापारियों की सम्पत्ति हड़प जाते थे। इसलिए अगर कहीं-कहीं व्यावसायिक पूंजी का कुछ-कुछ औद्योगिक पूंजी में स्थानांतरण हुआ भी, तो या तो राजाओं या राजकुमारों की पहलकदमी पर या उनकी 'उदार' अनुमति से।

यूरोपीय देशों में कृषि पिछड़ी हुई थी और इसलिए गैर-कृषि क्षेत्र विकसित हुए। वहां औद्योगिक विकास के लिए आंतरिक दबाव मौजूद था। वहां जमीन पर निजी भू-स्वामित्व था और गैर-कृषि कर्म पर जीनेवाले कारीगरों की अपनी बस्तियां बस गयी थीं जो आगे चलकर आधुनिक नगरों में विकसित हो गयी। 15वीं शताब्दी के बाद, यूरोप में केन्द्रीकृत शासन भी काफी कमजोर पड़ गया। नगरों के कारीगरों की ताकत क्रमशः बढ़ती गयी और कमजोर केन्द्रीय शासन इसी वर्ग की हिमायत पर निर्भर होता गया। स्थानीय सामंतों के आपसी युद्ध में, इन नये उदीयमान पूंजीपतियों ने उन सार्वजनिक बॉण्डों को खरीद लिया जिन्हें युद्धरत् सामंतों ने लड़ाई का बजट पूरा करने के लिए जारी किया था। इस तरह, इन पूंजीपतियों ने सामंती सरदारों को सोने की जंजीरों में जकड़ लिया। भारत में ऐसे कारीगरों की बस्तियों का विकसित होना सम्भव नहीं था क्योंकि यहां स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-समुदाय मौजूद थे। यहां आम तौर से राजे-महाराजों या नवाबों की राजधानियां और विदेश-व्यापार के लिए अनुकूल जगह ही नगरों का रूप ले सकीं। इसके अलावा, कारीगरों की विशाल आबादी

ग्राम-समुदायों में कैद थी और भूमि का चरम प्राधिकार निरंकुश सम्राट के हाथों में संकेन्द्रित था।

इस तरह, सिंचाई आधारित विकसित कृषि और प्राच्य स्वेच्छाचारिता—भारत में पूंजीवाद के विकास की राह में ये ही सबसे बड़ी बाधाएं थीं। यही कारण है कि भारत में वाणिज्य का विकास पूंजीवादी के विकास की ओर नहीं बढ़ सका। वाणिज्य अपने आप में पूंजीवाद का प्रमुख लक्षण नहीं है—यह तो प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली में भी मौजूद था।

2. औपनिवेशिक भारत : ऊपर औपनिवेशिक प्रणाली के जिन सात चरणों की चर्चा की जा चुकी है, वे औपनिवेशिक भारत पर भी लागू होते हैं।

(i) 1757 ई० में पलासी की लड़ाई के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी को 24-परगना की दीवानी मिल गयी और 1763 ई० में बक्सर की लड़ाई के बाद उसे पूरे बंगाल प्रांत की दीवानी मिल गयी। इसके बाद, कम्पनी को व्यापार के लिए अपनी जेब से एक कानी कौड़ी भी खर्च न करनी पड़ी। कम्पनी के मालिक अपनी दीवानियों में भू-राजस्व को साल-दर-साल निर्दयतापूर्वक बढ़ाते चले गये और वे इस राशि से मनमानी दर पर भारतीय सामान खरीदने लगे (क्योंकि अब राजनीतिक सत्ता उनके हाथों में थी) और साथ ही, इसी राशि से वे अपना प्रशासनिक खर्च भी पूरा करने लगे। भारतीय कारीगरों को मजबूर किया गया कि वे अपने मालों को नाममात्र दाम पर कम्पनी के हाथों बेचें। अंदरूनी व्यापार पर चुंगी बढ़ा दी गयी, जबकि निर्यात पर से शुल्क लगभग उठा लिये गये। इससे आदिम संचय और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति को मदद मिली।

भू-राजस्व की गारंटी करने के लिए, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने स्थानीय सामंतों के साथ अपना सम्बन्ध मजबूत कर लिया तथा इस्तमरारी (स्थायी), रैयतवारी और महलवारी बंदोबस्त के जरिये सामंती बिचौलियों का एक नया वर्ग पैदा कर दिया।

(ii) खानों और बगानों का काम चालू करके ईस्ट इंडिया कम्पनी धातु, खनिज और अन्य वाणिज्यिक कृषि-उत्पादों को सस्ती दर पर ब्रिटेन भेजने

लगी। भूस्वामियों को लगान हासिल हुआ, जबकि पूंजीपतियों ने अति-मुनाफा कमाया।

(iii) भारत सस्ते श्रम के स्रोत के रूप में भी ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की सेवा करने लगा। आदिवासियों और अन्य उजड़े हुए जन-समुदाय को पूर्ण-दासों या अर्द्ध-दासों के रूप में चाय या काफी बगानों, खानों, रेलवे लाइनों आदि में काम करने के लिए मजबूर किया गया। केवल यही नहीं, भारी तादाद में भारतीय अर्द्ध-दासों को खानों, बगानों आदि में काम करने के लिए जबर्दस्ती फिजी, मॉरिशस, गियाना, सूरीनाम आदि टापुओं पर भेजा गया। इससे विनियोग पर मुनाफे की दर ऊंची बनी रही।

(iv) सामंती संबंधों को मजबूत करते हुए अंग्रेजों ने कृषि के जबरन वाणिज्यीकरण का सहारा लिया ताकि वे भारत से सस्ते दाम पर औद्योगिक कच्चे माल प्राप्त कर सकें। यह प्रक्रिया भारतीय कृषि का औपनिवेशीकरण कहलाती है। इसके चलते, जबकि 1904-1905 से 1944-45 के बीच अनाज की पैदावार में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई, गैरखाद्यान्न वाणिज्यिक फसलों (चाय, कॉफी, कपास, जूट, नील आदि) का उत्पादन 54% बढ़ गया। गैरखाद्यान्न फसलों की प्रति हेक्टेयर उत्पादकता 13 अंक बढ़ गयी, लेकिन अनाज की उत्पादकता 13 अंक घट गयी। 1901 से 1941 के बीच अनाज की प्रति व्यक्ति खपत 200.21 किलोग्राम सालाना से घटकर 152·2 किलोग्राम सालाना हो गयी। 1892-93 से 1919-20 के बीच अनाज-उत्पादक क्षेत्र केवल 7% (187 मिलियन एकड़ से 210 मिलियन एकड़) बढ़े, लेकिन गैरखाद्यान्न फसल-उत्पादक क्षेत्र 43% (30 मिलियन एकड़ से 43 मिलियन एकड़) बढ़ गये। वाणिज्यिक फसलों का निर्यात बहुत तेजी से बढ़ गया —

फसल	वर्ष	निर्यात
कपास	1901	178000 टन
,,	1936-37	762133 टन
चाय	1901	190 मिलियन पौण्ड
,,	1939-40	359 ,, ,,
तेलहन	1901	549000 टन
,,	1938-39	1172802 टन

इस औपनिवेशिक वाणिज्यीकरण के चलते एक कारगर बाजार-संगठन, निर्यात-केन्द्रों का एक जाल भी पैदा हो गया। वाणिज्यिक फसलों के विकास के लिए कुछ वैज्ञानिक प्रयोगशालाएं भी खोली गयीं।

(v) औपनिवेशिक भारत ने ब्रिटिश उद्योगपतियों के लिए एक विशाल बाजार का भी काम किया। शुरू-शुरू में, भारत से व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की इजारेदारी के कारण नवोदित ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारतीय बाजार पर कब्जा करने में काफो दिक्कत हुई। अत: 1833 के चार्टर एक्ट के जरिये इस इजारेदारी को तोड़ दिया गया और ब्रिटिश उद्योगपतियों को भारत में अपना माला सीधे-सीधे बेचने का अधिकार मिल गया। आयात-शुल्क नाममात्र को रह गया जबकि निर्यात पर मनमाने ढंग से टैक्स बढ़ा दिये गये। इसका परिणाम हुआ भारत का वि-औद्योगीकरण (De-industrialisation), और भारतीय कारीगरों व दस्तकारों की तबाही, जबकि ब्रिटिश उद्योगपतियों ने पूंजी – यानी, अतिरिक्त मूल्य - पर हाथ मारा।

(vi) जब ब्रिटिश पूंजीवाद अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गया—यानी, जब ब्रिटेन में मुनाफे की औसत-दर गिरने लगी—तब ब्रिटिश पूंजीपति लोग भारत में पूंजी-निवेश करने लगे— प्रत्यक्ष विनियोग, ऋण और तकनीकी सहायता के रूप में, जिनपर उन्हें अति-मुनाफा, ब्याज और रॉयल्टी मिलने लगे।

इसी बीच, कुछ भारतीय बिचौलियों व दलालों ने—जिनमें टाटा लोग भी शामिल थे—कपास, खाद्यान्न, और अन्य निर्यात-सामग्रियों की आपूर्त्ति करके विशाल सम्पत्ति संचित कर ली यह सम्पत्ति-संचय खास तौर से अमरीकी गृह-युद्ध, ब्रिटेन के अबीसीनिया-विरोधी अभियान (1868) आदि के दौरान सम्पन्न हुआ। बम्बई नगर निर्यात-केन्द्र था और भारत से निर्यात को सुगम बनाने के लिए पहली रेलवे लाइन—बंबई-थाणे रेलवे लाइन— बनायी गयी। ये व्यावसायिक वर्ग ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा पूंजी निर्यात के माध्यम बन गये। इस अवधि में ब्रिटेन भी दूसरी औद्योगिक क्रांति के दौर से गुजर रहा था—कपास और कोयले की जगह इस्पात और पेट्रोलियम का महत्व

बढ़ रहा था। निश्चय ही परम्परागत लंकाशायर कपड़ा-उद्योग की स्थिति डावांडोल हो रही थी। इन परिस्थितियों में, भारत में पहली बार आधुनिक कपड़ा उद्योग शुरू किया गया।

लंकाशायर कपड़ा उद्योग इस विकास का विरोधी था, जब कि इंगलैण्ड के मशीन-निर्माता इसके पक्ष में थे। और तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश पूंजीपतियों के इस दूसरे हिस्से का ही पक्ष लिया। 'बॉम्बे स्पिनिंग एन्ड वीव्हिंग फैक्ट्री' नामक पहला कपड़ा-कारखाना 1854 में कावसजी नाना भाई दावर नामक एक पारसी व्यापारी के द्वारा शुरू किया गया। मशीनों की आपूर्त्ति करने और बंबई में उन्हें बैठाने का काम ओल्डहम (इंगलैण्ड) की मेसर्स प्लैट ब्रदर्स एन्ड कंपनी लिमिटेड ने पूरा किया। इसके बाद मानेकजी पेटिट ने 1858 में 'ओरियण्टल मिल्स' की स्थापना की। मशीनों की आपूर्त्ति मेनचेस्टर की हेरिंग्टन एण्ड सन्स और मेसर्स शार्प एण्ड रॉबर्ट्स नामक कम्पनियों ने की। सूती कपड़े की मिलों की कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के लिए टाटा इंगलैण्ड गया। लंकाशायर के मशीन-निर्माताओं ने तकनीशियनों को भारत भेजा।

इस प्रकार, ये उद्योग किसी भी तरह राष्ट्रीय उद्योग नहीं थे तथा भारतीय कपड़ा-निर्माताओं और लंकाशायर के कपड़ा-निर्माताओं के बीच का अन्तरविरोध, राष्ट्रीय पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों का अन्तरविरोध नहीं था। इसकी बजाय, यहां हम देखते हैं ब्रिटिश पूजीपतियों के दो हिस्सों के बीच का अन्तरविरोध, जिसमें एक हिस्सा अपना पुराना वर्चस्व खोता जा रहा था। इसके अलावा, य भारतीय निर्माता मशीनरी, तकनीकी जानकारी आदि के लिए ब्रिटिश पूंजीपतियों पर और यूरोपीय प्रबंध-संस्थाओं पर निर्भर थे। इससे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के हितों के अनुरूप भारत का थोड़ा-बहुत औद्योगीकरण शुरू हुआ और दलाल पूंजीपतियों का एक वर्ग पैदा हुआ।

समूचे औपनिवेशिक दौर में, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अर्द्ध-सामंती भूमिसंबंधों को बरकरार रखा और भारतीय भूस्वामी औपनिवेशिक शासन के

दृढ़ स्तंभ बने रहे । किसानों का मध्यकालीन उत्पीड़न, बंधुआ मजदूरी-प्रणाली, सूदखोरी आदि चीजें बेरोकटोक जारी रहीं । भू-राजस्व लगातार बढ़ता गया ।

वर्ष	भू-राजस्व
1901	17·5 मिलियन पौण्ड
1911-12	20 मिलियन पौण्ड
1936-37	23·9 मिलियन पौण्ड

किसानों पर सूदखोरों के कर्ज (किसानों की ऋणग्रस्तता) का अंदाजा निम्नलिखित आंकड़े से लगाया जा सकता है :

वर्ष	राशि
1911	300 करोड़ रुपये
1925	600 ,, ,,
1929	900 ,, ,,
1937	1800 ,, ,,

इसके चलते, एक विशाल भूभाग सूदखोरों के हाथों में चला गया और अनुपस्थित जमीन्दारों (absentee landlords) का एक वर्ग सामने आया, जिसकी कृषिगत विकास में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

कृषि के जबर्दस्ती औपनिवेशिक वाणिज्यीकरण और सामंतवाद की अपने मध्यकालीन रूपों में मौजूदगी के कारण भारतीय कृषि तबाह हो गयी । 1880 तक 12 लाख टन खाद्यान्न प्रतिवर्ष निर्यात किया जाता था। (भारत में होनेवाला अन्न-निर्यात आवश्यक रूप से इस बात का सूचक नहीं है कि अनाज की घरेलू जरूरतें एकदम पूरी कर ली जाती थीं और निर्यात वास्तविक 'अतिरेक' को प्रतिबिम्बित करता था। जनता के बीच व्यापक रूप से फैली हुई गरीबी के कारण अधिकांश लोगों को दो जून भरपेट खाना मयस्सर नहीं हो पाता था और ब्रिटिश पूंजीपतियों की स्वार्थ-पूर्ति करनेवाली निर्यात सम्बन्धी मांगों को केवल तभी पूरा किया जा सकता था, जबकि अनाज की

कीमतें गरीब जनता की पहुंच से बाहर हों।) 1919-20 तक भारत खाद्यान्न का निर्यातक देश बना रहा। 1921 से भारत खाद्यान्न का आयातक देश हो गया। यहां तक कि 1942-43 में भारत को मजबूर किया गया कि वह सीलोन (श्रीलंका) को चावल निर्यात करे। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि बंगाल में अनाज की कीमतें आसमान छूने लगीं और वहां इतने ऊंचे दाम पर अनाज खरीदने में असमर्थ 15 लाख लोग काल के गाल में समा गये।

कुल मिलाकर, ब्रिटिश राज के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक व अर्द्ध-सामंती अर्थव्यवस्था थी।

3. **उपनिवेशोत्तर भारतीय अर्थव्यवस्था** : द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान दलाल पूंजीपतियों ने अपनी स्थिति और भी मजबूत कर ली तथा कुछेक इजारेदार घरानों का जन्म हुआ। पूरे देश में सामंतवाद-विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी उभार उमड़ पड़ा और 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उपनिवेशवाद और सामंतवाद अब अपने शास्त्रीय रूपों में टिके नहीं रह सकते थे। इसलिय नये परिवर्त्तन किये गये। अब हम कृषि और उद्योग – दोनों ही क्षेत्रों में उपनिवेशोत्तर भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ मुख्य-मुख्य विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

भारत की उपनिवेशोत्तर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

I. **कुछेक हाथों में भूमि का संकेन्द्रण** : 1954-55 में, 10% से भी कम ग्रामीण परिवारों ने कुल कृषि-भूमि के आधे से भी अधिक भाग पर कब्जा कर रखा था, जबकि दूसरी तरफ, एक चौथाई परिवारों के पास कहीं कोई जमीन न थी और अन्य एक चौथाई परिवारों के पास कुल जमीन का 1% से कुछ ही ज्यादा भाग था।

स्थिति अभी कमोबेश वैसी ही है। भूमि-सुधारों का मामला अभी सबसे उपेक्षित मामलों में से है। सरकारी आंकड़ों के ही अनुसार, लगभग 360

मिलियन एकड़ कुल बोयी हुई जमीन में से, 31 जुलाई 1977 तक स्थिति इस प्रकार थी :

जमीन	मिलियन एकड़
(i) कानूनी हदबन्दी से फाजिल अनुमानित अतिरिक्त भूमि	5·32
(ii) घोषित 'अतिरिक्त' भूमि	4·04
(iii) सरकार द्वारा दखल की हुई अतिरिक्त भूमि	2·10
(iv) वास्तव में पुनर्वितरित भूमि	1·29

इस तरह कुल जमीन के 1% भाग का आधा भी गरीब किसानों में पुनर्वितरित नहीं किया गया है।

II. **मध्यकालीन सम्बन्धों की मौजूदगी** : भारत के विशाल देहाती इलाकों में बंधुआ मजदूरी, बटाईदारी और वस्तु-लगान अभी तक प्रचलित है।

III. **छोटी जोतों की संख्या में बढ़ोतरी** : पिछले 30 वर्षों में भूमिहीन किसानों की संख्या बढ़ गयी है, जबकि बड़ी जोतों की संख्या में कुछ गिरावट आयी है। बड़ी जोतों की संख्या में गिरावट निश्चय ही आंशिक रूप से इस कारण आयी है कि हदबंदी कानूनों से बचने के लिए ऐसी बड़ी जोतों में नकली बिखराव ला दिया गया है। लेकिन इससे यह तथ्य किसी भी तरह खण्डित नहीं होता कि छोटी जोतें काफी बढ़ गयी हैं।

निम्नलिखित आंकड़ा इस बात को बखूबी प्रमाणित कर देता है :

(i) 0 01 से 2·49 एकड़ के बीच की जोत

वर्ष	परिवारों का प्रतिशत	जमीन का प्रतिशत
1951	49 2	7·6
1954-56	38·15	5·9
1961-62	48·4	7·6
1971-72	32·9	9·3

(ii) 2·5 से 4·99 एकड़ के बीच की जोत

1951	14·3	11·1
1954-55	13·5	10·9
1961-62	15.2	12·4
1971-72	16·4	14·9

(iii) 5 से 9·99 एकड़ के बीच की जोत

1951	14·3	18·6
1954-55	12·5	19·6
1961-62	12·8	20·6
1971-72	19·9	22·6

(iv) 10 से 24·99 एकड़ के बीच की जोत

1951	11·00	24·3
1954-55	9 15	30·3
1971-72	8·1	30·4

(v) 25 एकड़ से ऊपर की जोत

1951	5·3	33·4
1954-55	3·6	33·3
1961-62	2·9	28 2
1971-72	2·3	22·8

बाजार के लिए उत्पादन, जो कि कृषि में पूंजीवाद का एक लक्षण है, छोटी जोतों में बढ़ोत्तरी के साथ मेल नहीं खाता। छोटे किसान महज या मुख्य रूप से उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं।

IV. **जमीन के टुकड़ों (Parcels of land) में वृद्धि :** 1951 में जमीन के 215 मिलियन टुकड़े थे, जो 1961-62 में बढ़कर 287·3 मिलियन और 1971-72 में बढ़कर 389·5 मिलियन तक पहुंच गये। इस अवधि में आवादी 7%, कृषि योग्य भूमि 8%, लेकिन जमीन के टुकड़े 67·2% बढ़ गये!

भूमि के बढ़ते हुए विखण्डन के साथ कृषि के मशीनीकरण का मेल नहीं बैठता। उत्पादन के साधनों में विभाजन की वृद्धि के साथ अनुत्पादक खर्च बढ़ने लगता है और इस तरह भूमि का विखण्डन कृषि में मशीनीकरण की गुंजाइश को रोक देता है।

V. **कृषि पर निर्भर आबादी की स्थिरता :** 19वीं शताब्दी में, भारत के औद्योगीकरण के कारण कृषि पर निर्भर आबादी बढ़ गयी थी। इस समय कृषि पर निर्भर लोगों की तादाद मोटा-मोटी कुल आबादी के 75% भाग के आसपास स्थिर है।

VI. **ग्रामीण संपत्ति का अनुत्पादक इस्तेमाल :** सरकारी आंकड़ों के ही अनुसार, कृषि-क्षेत्र में पैदा की हुई सम्पत्ति का कम-से-कम 75% भाग अनुत्पादक मदों पर खर्च कर दिया जाता है, लगभग 10% पशुओं की खरीद में खर्च किया जाता है और केवल 4% ही कृषि-यंत्र की खरीद में खर्च किया जाता है। कृषि में पूंजीवाद का एक निर्णायक लक्षण यह है कि इस क्षेत्र में पैदा की हुई सम्पत्ति उत्पादक कामों में लगा दी जाती है, ताकि अतिरिक्त मूल्य पैदा किया जा सके। लेकिन भारत में हम ऐसा विकास सीमान्त स्तर पर भी नहीं देखते।

VII. **सूदखोरी :** मुख्य रूप से परम्परागत सूदखोर ही अभी भी किसानों को कर्ज मुहय्या करते हैं। जमींदारों व सूदखोरों द्वारा किसानों को दिये गये कर्ज राशि 4000 करोड़ रुपये (1970-दशक) तक पहुंच गया है। उनके सूद की दर आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गयी है—

वर्ष	सूद की दर
19 वीं शताब्दी के अंत में	1 से 50%
1960-दशक	25 से 75%
1970-दशक (अंत)	33 से 120%

कुछ स्थानों पर तो सूद की दर 240% तक है!

अभी भी बैंकों द्वारा कृषि-ऋण का केवल 4% भाग ही मुहय्या किया जाता है।

VIII. **कृषि और घरेलू दस्तकारी की परम्परागत एकता :** 1920 में 10 लाख हथकरघे थे जो 1940 में 15 लाख और 1977 में छलांग लगाकर 38 लाख हो गये। 10 मिलियन लोग इससे सम्बन्धित हैं और वे कुल कपड़ा-उत्पादन का 45% भाग पैदा करते हैं। भूमिहीन, गरीब और मध्यम किसान ही मुख्यतः ऐसे हथकरघों के मालिक हैं। इन तथ्यों से छोटे पैमाने की खेती और घरेलू दस्तकारी की परम्परागत एकता का जारी रहना दिखलायी पड़ता है। यही एकता सामंती उत्पादन-प्रणाली की नींव है।

IX. **औपनिवेशिक चरित्र :** कृषि में उक्त सामंती संबंधों की मौजूदगी अनिवार्य रूप से कृषि-संकट को जन्म देती है। इससे सामाजिक तनाव और अस्थिरता पैदा होती है तब पूंजी-निवेश की गुंजाइश खतरे में पड़ जाती है। अतः साम्राज्यवादी लोग अति-मुनाफा कमाने के लिए अर्द्ध-सामंतवाद को कायम रखते हुए यह भी चाहते हैं कि खाद्यान्न के मोर्चे पर कुछ स्थिरता रहे, ताकि खाद्य-दंगों को रोका जा सके और पूंजी-निवेश की गुंजाइश सुरक्षित रहे। '60-दशक के मध्य में ऐसी ही परिस्थितियां थीं जिनके चलते साम्राज्यवादियों ने भारत में एक 'नयी कृषि-राजनीति' चालू की। इस रणनीति में उन्नत किस्म के बीजों, रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाओं की आपूर्त्ति और नियंत्रित जल-आपूर्त्ति आदि शामिल थीं। ग्रामीण विकास के लिए कर्ज बांटे गये। लेकिन भारत के देहातों में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक संबंधों के कारण स्वाभाविक तौर पर इस कार्यक्रम से सबसे ज्यादा फायदा उठाया जमींदारों और धनी किसानों के एक हिस्से ने। खाद्यान्न के आयात पर अपनी निर्भरता की जगह हम विदेशी कर्जों और खादों व कृषि-यंत्रों आदि के आयात पर निर्भर हो गये। इस तरह, 'नयी कृषि-रणनीति' के जरिये जमींदार वर्ग और भी मजबूत हो गया, साम्राज्यवादी घुसपैठ और भी बढ़ गयी तथा खाद्यान्न के मोर्चे पर थोड़ी स्थिरता आ गयी। लेकिन चूंकि भारतीय जनता की - खासकर किसानों की क्रय-शक्ति नहीं बढ़ी, इसलिए अन्न-उत्पादन में थोड़ी-बहुत वृद्धि भी 'जरूरत से ज्यादा' हो गयी। इससे उत्पादन बढ़ाने का सारा उत्साह ठंढा हो गया और जमींदारों को

बढ़ावा मिला कि वे ग्रामीण विकास-कोषों व कर्जों का सूदखोरी, व्यावसायिक क्रिया-कलापों और सट्टेबाजी में इस्तेमाल कर लें। सरकार के सामने एक-मात्र विकल्प यह था कि वह इस अनाज के निर्यात के लिए बाजार की तलाश करे। जहां उत्पादन के आधुनिक औजारों की आपूर्त्ति की जाती है, वहां थोड़े-बहुत पूंजीवादी विकास को रोकना सम्भव नहीं होता, लेकिन उपर्युक्त कारणों से, यह सीमित पूंजीवादी विकास भी अवरूद्ध हो जाता है। जो साम्राज्यवादी देश खाद्यान्न का निर्यात करते हैं, वे यह पसंद करते हैं कि भारत में खाद्यान्न का उत्पादन एक सीमांत हद तक हो—लेकिन यह सीमांत उत्पादन भारत जैसे देश के लिए अत्यन्त हानिकारक होगा; क्योंकि यहां उत्पादन-प्रणाली अभी भी पिछड़ी हुई है और मानसून पर निर्भर है और यहां तक कि एक खराब मानसून भी तबाही ला दे सकता है। उधर, जो सम्राज्यवादी देश खाद्यान का आयात करते हैं, वे सम्भवतः यह पसंद करेंगे कि भारत को अपने बंधुआ कृषि-क्षेत्र के रूप में विकसित किया जाय, जो उन्हें सस्ते में कृषि द्वारा उत्पादित वस्तुएं मुहत्या करेगा।

ये तमाम तथ्य साबित करते हैं कि मौजूदा भारत में अर्द्ध-सामंती संबंध मौजूद हैं।

उपनिवेशोत्तर भारत के औद्योगिक विकास की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:

I. विदेशी 'सहायता' और कर्ज का भारी मात्रा में अंतःप्रवेश :

उपनिवेशोत्तर भारत के औद्योगिक विकास की एक विशेषता है विभिन्न साम्राज्यवादी देशों से विदेशी 'सहायता' और कर्ज का भारी मात्रा में अंतःप्रवेश।

विदेशी सहायता और कर्ज

(करोड़ रुपये में)

कर्ज आदि देनेवाले देश/संस्थाएं	स्वीकृत सहायता (3.-3-1978 तक)	दिया गया कर्ज (31-3-1977 तक)
संयुक्त राज्य अमेरिका	6,114	2,757
सोवियत संघ	1,535	333
विश्व बैंक समूह	5,199	2,971

ब्रिटेन	2,108	845
पश्चिमी जर्मनी	1,508	1,198
कनाडा	938	366
फ्रांस	473	269

II. **बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ सहयोग** : द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की नयी परिस्थितियों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने, भारत में सीधे अपनी कम्पनियां स्थापित करने की बजाय, इस चीज को प्राथमिकता दी कि शेयर-पूंजी ऋण, तकनीकी समझौता आदि के जरिये भारत के दलाल-इजारेदार पूंजीपतियों के साथ सहयोग किया जाय। यहां तक कि विदेशी सहयोग से स्थापित कम्पनियों में उत्पादित वस्तुओं की बिक्री भी विदेशी एजेन्सियों द्वारा नियंत्रित होती है। पिछले 30 वर्षों के दौरान, 6,500 से भी ऊपर सहयोग-समझौतों को सरकार ने मंजूरी दी थी। अमेरिका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, स्वीटजरलैंड और अन्य यूरोपीय देशों के साथ-साथ जापान जैसे देशों की लगभग 1,000 विदेशी फर्मों ने भारत में पूंजी विनियोग किया था। भारत में 30 अमरीकी कम्पनियों का अध्ययन बतलाता है कि 1980 में टैक्स चुकाने के बाद, कुल मूल्य के अनुपात में, लगभग 20% कुल मुनाफा कमाया।

III. **पूंजी का नौकरशाहीकरण** : 1947 के बाद भारत सरकार ने भारतीय दलाल इजारेदार पूंजीपतियों को अधिसंरचनात्मक सुविधाएं मुहय्या की; ताकि उनके तीव्र विकास के लिए परिस्थितियां तैयार की जा सकें। मशीन-निर्माण, इस्पात, ऊर्जा आदि उद्योगों का निर्माण; परिवहन-सुविधाओं का विकास; कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण; और साथ ही, औद्योगिक वित्त निगम (आइ० एफ० सी०), औद्योगिक ऋण व विनियोग निगम (आइ० सी० आइ० सी०) आदि जैसी सरकारी वितीय संस्थाओं की स्थापना—इन तमाम चीजों ने भारत के बड़े पूंजीपतियों को एक ऐसे समय में भारी आवेग पहुंचाया, जब वे अपने बूते पर ऐसे कार्यभार उठाने में सक्षम नहीं थे। सरकार ने आम जनता पर टैक्स लगाकर, और साथ ही, साम्राज्यवादी देशों से कर्जे लेकर ऐसी अधिसंरचनात्मक सुविधाएं पैदा कीं।

औपनिवेशिक जमाने की तरह ही, विदेशी पूंजीपतियों ने दलाल पूंजीपतियों के इजारेदार चरित्र को जानबूझ कर मजबूत बनाया, इसलिए भारत सरकार ने भी इन पूंजीपतियों की इजारेदार स्थिति को जानबूझ कर और भी सुदृढ़ कर दिया। 19-7 से 1965 के बीच, सरकारी वित्तीय संस्थाओं ने 44 कम्पनियों को 6,060.80 करोड़ रुपयों का कुल कर्ज दिया। इस कर्ज में से 83% भाग (5,037.30 करोड़ रुपये) केवल 15 कम्पनियों को मिला। ये सभी 15 कम्पनियां या तो सीधे तौर पर किसी विदेशी कम्पनी से या फिर उसकी सहायक कम्पनी से संबंधित थीं तथा इन 15 कम्पनियों की कुल सम्मिलित पूंजी 44 कम्पनियों की कुल सम्मिलित पूंजी का 68% थी।

IV. **पूंजी का बढ़ता हुआ इजारेदारीकरण :** पिछले तीन दशकों में, चन्द इजारेदार घरानों में तेजी से पूंजी का संकेन्द्रण हुआ है। इन इजारेदार घरानों में से सिर्फ बिड़ला ग्रुप का ही आॅटोमोबाइल के 66%, कपड़ा उत्पादन के 75%, बिजली पंखों के 27%, मालगाड़ी के डब्बों के 24% और कमरों के एयर कंडीशनर के 16% पर नियंत्रण है। टाटा ग्रुप का एकाधिकारी नियंत्रण इस्पात की मिल्लियों, औद्योगिक मशीनों, तेल, साबुन आदि के उत्पादन पर है।

इस तरह उपनिवेशोत्तर भारत में दलाल-इजारेदार-नौकरशाह पूंजीपतियों का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ। तमाम साम्राज्यवादी शक्तियों ने, खास तौर से सोवियत संघ और अमेरिका ने, भारत में पूंजी के बढ़ते हुए इजारेदारीकरण और नौकरशाहीकरण की इस प्रक्रिया में योगदान किया।

V. **पूंजी को इसके मध्यकालीन रूपों में बनाये रखना :** अर्द्ध-सामंती भूमि-संबंधों की मौजूदगी इस पूंजी को माध्यकालीन रूपों में बनाये रखती है, जिसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार होती है :

(i) ये दलाल पूंजीपति विलास-सामग्रियों के उत्पादन में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। इन विलास-सामग्रियों का उपभोग अमीर वर्गों का एक छोटा-सा हिस्सा करता है। व्यापक किसान-समुदाय के पास क्रय-शक्ति है ही नहीं, इस-

लिए इन पूंजीपतियों का बाजार अत्यन्त सीमित है। गरीब किसान-समुदाय के लिए मोटे कपड़े का उत्पादन करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं; लेकिन वे सौन्दर्य-प्रसाधनों, पोलिएस्टर धागों या अन्य विकास-सामग्रियों के उत्पादन में विशेष रुचि प्रदर्शित करते हैं।

(ii) घरेलू बाजार के अभाव में, वे निर्यातोन्मुख उद्योगों पर जोर देते हैं।
(iii) घरेलू बाजार का अभाव उद्योग-धंधे स्थापित करने की इनकी नयी कोशिशों को सीमित कर देता है, इसलिए वे वाणिज्यिक कार्यवाहियों में मशगूल हो जाते हैं—वे व्यावसायिक फर्मों, आयात-निर्यात फर्मों आदि में पैसा लगाते हैं। 1955-76 के बीच, जबकि कम्पनियों की संख्या स्थिर (12,000) बनी हुई थी, रजिस्टर्ड फर्मों की संख्या 6,551 से छलांग लगाकर 2,46,035 हो गयी !

विलास-सामग्रियों और निर्यातोन्मुख वस्तुओं का उत्पादन तथा वाणिज्यिक कार्यवाहियो में मशगूल होना—ये पूंजी के प्राक्-पूंजीवादी रूप हैं।

VI. **लम्पट पूंजीपतियों का उदय** : अर्द्ध-सामंती सम्बन्धों की मौजूदगी, निजी क्षेत्र और राजकीय क्षेत्र—इन तमाम चीजों ने लम्पट पूंजीपतियों के एक नये वर्ग को जन्म दिया है। चूंकि औद्योगिक विनियोग की गुंजाइश सीमित है, इसलिए निजी इजारेदार पूंजीपति अपनी पूंजी का एक भाग काले धन के रूप में, रजिस्टर्ड फर्मों और अन्य अनेक उपायों से, जमा कर लेते हैं। इस प्रक्रिया में उनके एजेन्टों का एक हिस्सा पूंजीपति बन जाता है। दूसरी ओर, राजकीय क्षेत्र के उपक्रमों के अधिकारी और शासक पार्टियों के सगे-सम्बन्धी; सार्वजनिक धन का गबन करके तथा सरकार द्वारा मुहय्या किये हुए कर्जों व अन्य सुविधाओं का खासा बड़ा भाग हड़पकर; पूंजीपति बन जाते हैं। उपनिवेशोत्तर भारत के इन नवजात पूंजीपतियों को लम्पट पूंजीपति—'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की नाजायज औलाद—कहा जाता है।

कुल मिलाकर, उपनिवेशोत्तर भारतीय अर्थव्यवस्था एक अर्द्ध-सामंती,

अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्थव्यस्था है। जमींदार, दलाल-इजारेदार-नौकरशाह पूंजीपति और विदेशी साम्राज्यवादी हमारे समाज का अतिरिक्त उत्पादन हड़प जाते हैं तथा वे नयी उत्पादन शक्तियों के विकास में अड़ंगा डाल रहे हैं। समूचे भारत में हो रहे जनवादी आंदोलन इस वस्तुगत यथार्थ की अभिव्यक्तियां हैं। केवल बड़े पूंजीपतियों और बड़े जमीन्दारों के शासन को उखाड़ फेंक कर ही उत्पादन शक्तियां मुक्त हो सकेंगी और एक नये समाज का निर्माण किया जा सकेगा। अतः, अपनी अगली पुस्तक में हम वैज्ञानिक समाजवाद की विवेचना करेंगे।



परिशिष्ट 1

नव-जनवादी और सामाजवादी अर्थव्यवस्था

अर्द्ध-सामंती व अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में नव-जनवादी अर्थव्यवस्था केवल तभी स्थापित की जा सकती है, जबकि सर्वहारा के नेतृत्व में व्यापक जन-समुदाय बड़े जमींदारों व बड़े पूंजीपतियों के शासन को उखाड़ फेंके तथा जनता का जनवादी अधिनायकत्व कायम कर लिया जाय। जनता का जनवादी राज्य जमींदारों की जमीन, विदेशी पूंजी और दलाल-इजारेदार-नौकरशाह पूंजी को जब्त कर लेता है और इस तरह, उत्पादक शक्तियों को मुक्ति दिला देता है और तब एक नयी जनवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना करने में लग जाता है।

(i) **जमीन जोतनेवालों को** : जमींदारों की जमीन जब्त करके भूमिहीन, गरीब और निम्न-मध्यम किसानों में बांट दी जाती है। किसानों की सहकारी समितियों का गठन किया जाता है और कृषि-विकास को सुगम बनाने के लिए, जनता का जनवादी राज्य अधिसंरचनात्मक सुविधाएं मुहय्या करता है। किसानों को सामंतवाद के शिकंजे से मुक्ति दिलाकर, यह राज्य राष्ट्र के भारी पैमाने पर औद्योगीकरण की परिस्थितियां उत्पन्न कर देता है।

(ii) बड़े पूंजीपतियों व साम्राज्यवादियों की पूंजी की जब्ती तथा उस पर समूची जनता के स्वामित्व की स्थापना के दो पहलू हैं। पहला यह कि इससे सामंती संबंधों को नेस्तनाबूद कर देने में मदद मिलती है और दूसरा यह कि इससे नव-जनवादी अर्थव्यवस्था में सामाजवादी तत्व पैदा हो जाता है। चूंकि अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में उद्योग व वाणिज्य के प्रमुख क्षेत्र बड़े पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों और उनके राज्य के हाथों में रहते हैं, इसलिए इनकी जब्ती और इन पर समूची जनता के स्वामित्व की स्थापना का मतलब होता है अर्थव्यवस्था के मूलस्थलों (Key points) का सामाजवादी नियंत्रण के अंतर्गत चला आना। यह चीज राष्ट्रीय

अर्थव्यवस्था के विकास में अग्रणी भूमिका निभाती है। इस तरह, यह आर्थिक मामलों में सर्वहारा-नेतृत्व का प्रतिबिम्ब है। इससे उत्पादक शक्तियों को साम्राज्यवादियों व बड़े पूंजीपतियों के शिकंजे से मुक्ति मिल जाती है और ऐसी परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं, जिनमें नयी उत्पादक शक्तियों का, योजनाबद्ध तरीके से, अभूतपूर्व विकास किया जा सकता है।

(iii) राज्य के नियंत्रण में राष्ट्रीय पूंजीपतियों के उद्योगों का विकास। जनता का जनवादी राज्य राष्ट्र की जरूरतों के मुताबिक योजना बनाता है, इन उद्योगों को कोटा देता है और बिक्री करने के लिए उनकी उत्पादित वस्तुओं को खरीदता है। इस कोटा के अतिरिक्त, वे और अधिक उत्पादन करने तथा अपने बूते पर, उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए स्वतंत्र रहते हैं। इस तरह राष्ट्रीय पूंजीपतियों को स्थिरता प्राप्त हो जाती है। अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में इस स्थिरता की कल्पना तक नहीं की जा सकती, क्योंकि उसमें राष्ट्रीय पूंजीपतियों को हमेशा बड़े पूंजीपतियों के साथ होड़ का सामना करना पड़ता है और एक अज्ञात बाजार के लिए उत्पादन करना पड़ता है।

लेकिन उत्पादक-शक्तियों के विकास के एक खास बिन्दु पर यह नवजनवादी अर्थव्यवस्था भी पर्याप्त नहीं रह जाती। कृषि का विकास मांग करता है कि सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए बड़े पैमाने की मशीनीकृत खेती की जाय, और राष्ट्रीय पूंजीपतियों के छोटे-मझोले निजी उद्योग बढ़ती हुई सामाजिक मांगों को पूरा करने में असफल रह जाते हैं। इसलिए सामाजवादी अर्थव्यवस्था की शुरूआत की जाती है। अर्थव्यवस्था के वे प्रमुख क्षेत्र, जो समूची जनता के स्वामित्व के अन्तर्गत होते हैं, इस रूपांतरण की आधारशिला रखते हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवाद और कम्युनिज्म के बीच की संक्रमणात्मक अवस्था है। **मार्क्स** ने इसे कम्युनिज्म की पहली मंजिल कहा था। समाज़वादी अर्थव्यवस्था में, उत्पादन के औजारों पर निजी स्वामित्व मुख्यतः समाप्त कर दिया जाता है। अतः श्रम-शक्ति अब एक माल नहीं रह जाती।

जो उसूल लागू किया जाता है, वह है—"हरेक से उसकी क्षमता के अनुसार' हरेक को उसके काम के अनुसार।" चूंकि समाजवाद में वर्ग-विभेद, विभिन्न समुदायों के सांस्कृतिक अंतर, उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों के बीच, विभिन्न इलाकों के बीच, भौतिक व मानसिक और कुशल व अकुशल श्रम के बीच विभिन्नताओं आदि की पूंजीवादी विरासत मौजूद रहती है, इसलिए समाजवाद रातोंरात सामाजिक समानता की स्थापना नहीं कर सकता।

(i) हालांकि समाजवाद निजी स्वामित्व को मुख्य तौर पर समाप्त कर देता है, फिर भी तीन प्रकार के स्वामित्व रह जाते हैं—समूची जनता का स्वामित्व, मजदूरों या किसानों की समितियों का समूहिक स्वामित्व और छोटे उत्पादकों का निजी स्वामित्व। स्वाभाविक रूप से इन ग्रुपों के बीच मनमाना विनिमय नहीं हो सकता, बल्कि इसे अनिवार्य रूप से समान मूल्यों का विनिमय होना चाहिये। इसलिए, समाजवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य के नियम की कार्यवाही जारी रहती है।

(ii) लेकिन इस मूल्य के नियम की कार्यवाही समग्र सामाजिक नियोजन की प्रणाली के अन्तर्गत चलती है। नियोजन के अन्तर्गत बाजार-संरचना से प्रेरणा-प्रोत्साहन (Motivation) की समस्या हल होती है, और साथ ही, अर्थ-व्यवस्था का संतुलन कायम होता है। मूल्य के नियम का स्वच्छन्द विकास तो बस पूंजीवाद में पतित हो जायगा तथा मूल्य के नियम के बगैर नियोजन उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधक हो जायगा और नौकरशाही को जन्म देगा।

खास तौर से अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में, जहां माल-उत्पादन का स्तर बहुत नीचे होता है, सामाजिक नियोजन के अंतर्गत मूल्य का नियम और भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इसके बिना समाजवादी माल-उत्पादन असम्भव है और इसकी अनुपस्थिति में कम्युनिज्म की स्थापना की कल्पना नहीं की जा सकती।

मानव-जाति के इतिहास में पहली बार सिर्फ समाजवादी अर्थव्यवस्था में ही, सामाजिक उत्पादन सुनियोजित आधार पर संगठित किया जाता है, संकटों

पर विजय हासिल कर ली जाती है, जनता की पहलकदमी खुल जाती है और उत्पादन-शक्तियों का अभूतपूर्व विकास होता है। मुख्य रूप से समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों की स्थापना कर लेने के बाद, यह आवश्यक हो जाता है कि उत्पादन-सम्बन्धों के उन पहलुओं का रूपांतरण लगातार जारी रखा जाय, जो पूंजीवाद से विरासत में हासिल होते हैं, और साथ ही, उत्पादक शक्तियों में विकास के अनुरूप नये सम्बन्धों का विकास किया जाय। इसके अलावा, चूंकि पुराना ऊपरी ढांचा—विचारधारात्मक-सांस्कृतिक बनावट—भी नयी उत्पादक शक्तियों के विकास में भारी रुकावट डालता है, इसलिए ऊपरी ढांचे के रूपांतरण का कार्यभार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।
चूंकि भिन्न-भिन्न देशों की ठोस परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिए समाजवाद भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप अख्तियार करता है; लेकिन सारतत्व—यानी, उत्पादन के औजारों पर सामूहिक स्वामित्व और उत्पादक शक्तियों का नियोजित विकास—समान ही रहता है।
जब विभिन्न सामूहिक गुणों का स्वामित्व समाप्त हो जायगा और जब समूची जनता का स्वामित्व समग्र रूप से स्थापित हो जायगा, तथा साथ ही, जब उत्पादक शक्तियां इस हद तक विकसित हो जायंगी कि किसी किस्म का अभाव नहीं रह जायगा, तब और केवल तभी, विनिमय भी समाप्त हो जायगा और कम्युनिस्ट उत्पादन-प्रणाली अंतिम रूप से स्थापित हो जायगी।